भगवद्गीता के
सामाजिक-राजनीतिक पहलू

भारत ज्ञान विज्ञान समिति

नव जनवाचन आंदोलन

इस किताब का प्रकाशन भारत ज्ञान विज्ञान समिति ने 'सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट' के सहयोग से किया है। इस आंदोलन का मकसद आम जनता में पठन-पाठन संस्कृति विकसित करना है।

भगवद्गीता के सामाजिक-राजनीतिक पहलू डी.डी. कोसांबी	**Bhagwad Gita Ke Samajik Rajnitik Pahalu** **D.D. Kosambi**
हिंदी अनुवाद प्रमोद झा	***Hindi Translation*** **Pramod Jha**
पुस्तकमाला संपादक तापोश चक्रवर्ती	***Series Editor*** **Taposh Chakravorty**
कॉपी संपादक राधेश्याम मंगोलपुरी	***Copy Editor*** **Radheshyam Mangolpuri**
रेखांकन धीरज सोमवसी	***Illustration*** **Dhiraj Sowmbasi**
कवर एवं ग्राफिक्स जगमोहन	***Cover & Graphics*** **Jagmohan**
प्रथम संस्करण दिसंबर, 2007	***First Edition*** **December, 2007**
सहयोग राशि 25 रुपये	***Contribution*** **Rs. 25**
मुद्रण सन शाइन ऑफसेट नई दिल्ली - 110 018	***Printing*** **Sun Shine Offset** **New Delhi - 110 018**
सौजन्य से मार्क्सिस्टस डॉट ऑर्ग	***Courtsey*** **Marxists.org**

Publication and Distribution

Basement of Y.W.A. Hostel No. II, G-Block, Saket , New Delhi - 110 017
Phone : 011 - 26569943, Fax : 91 - 011 - 26569773
Email : bgvs_delhi@yahoo.co.in, bgvsdelhi@gmail.com
website: www. bgvs.org

BGVS DECEMBER 2007 2K 2500 NJVA 0099/2007

भगवद्गीता के सामाजिक-राजनीतिक पहलू

भगवद्गीता को 'ईशकृपा का गीत' माना जाता है। यह महान भारतीय काव्य *महाभारत* का अंश है। इसके 18 अध्यायों में पांडव योद्धा अर्जुन और यदुवंशी सारथी कृष्ण के बीच हुए संवाद के बारे में संजय द्वारा दिया गया ब्यौरा है। कृष्ण को विष्णु का आठवां अवतार भी माना जाता है।

असली लड़ाई शुरू ही होने वाली थी, तभी अर्जुन के मन में जंग के लिए नफरत पैदा हो गई, क्योंकि उसमें उसे अपने नातेदारों और रिश्तेदारों को मारना पड़ता। भगवान कृष्ण ने अर्जुन के मन की उहापोह को दूर करने के लिए एक दार्शनिक खाका पेश किया और उसके उपदेश तब तक जारी रहे, जब तक कि अर्जुन बड़े पैमाने पर नरसंहार करने के लिए पूरी तरह तैयार नहीं हो गया।

गीता ने बिलकुल अलग-अलग रुझान के लोगों को, जिनकी सोच न केवल एक-दूसरे से बल्कि अर्जुन से भी अलग थी, अपनी ओर आकर्षित किया है। उन सभी ने इन ईश्वरीय वचनों की व्याख्या बिलकुल अलग-अलग ढंग से की है। इससे अंदेशा होने लगता है कि कहीं इनका मूल रूप संदेह मिटाने की बजाय उसे पैदा करने और इंसान के अंदरूनी बिखराव को कम करने की बजाय उसे बढ़ाने वाला तो नहीं है। यदि नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाला कोई दर्शन काफी अलग-अलग ढंग के समाजों में विकसित हुई सोचों को इतने भिन्न-भिन्न ढंग की व्याख्या करने के लिए प्रेरित करता है तो इसका मतलब यही है कि उससे बिलकुल सटीक अर्थ नहीं निकलते। जिस रचना के मतलब में इतना लचीलापन है, उसके जायज होने का सवाल ही नहीं उठता।

महाभारत की लड़ाई अगर दिल्ली से थानेसर के बीच बताए गए पैमाने पर लड़ी गई थी, जिसमें घोड़ों समेत एक लाख तीस हजार रथ, उतने ही हाथी और उससे 3 गुने घुड़सवार शामिल थे, तो इसका मतलब यह है कि खेमों में सेवा-टहल करने वालों और दूसरे मददगारों की भी कम-से-कम इतनी ही तादाद शामिल होगी। इतनी बड़ी फौज मुहैया कराने के लिए देश में कम-से-कम 20 करोड़ लोगों की आबादी होनी चाहिए थी। मगर भारत की इतनी आबादी तो ब्रिटिश राज के वक्त में हुई, जिसके पालन-पोषण के लायक खेती के लिए हल के फालों और किसानी के औजारों की जरूरत थी, और उसके वास्ते बड़े पैमाने पर सस्ता लोहा और स्टील चाहिए था।

इसमें कोई शक नहीं कि ईसा से छह सदी पहले तक भारतीय किसानों को लोहा हासिल नहीं था। उस दौर के जो ब्यौरे हासिल हैं, उनके मुताबिक सबसे बड़ी फौज चंद्रगुप्त मौर्य के पास थी, जिसमें लगभग 4 लाख सैनिक थे। लेकिन वह इतनी बड़ी फौज इसलिए रख सका कि उसे हाल ही में विकसित हुई गंगा नदी की घाटी में जरूरत से ज्यादा मात्रा में पैदा हो रही चीजें हासिल होती थीं। *महाभारत* में फौजी टुकड़ियों के बारे में पट्टी, गुल्म आदि शब्दों का इस्तेमाल किया गया है। उस अर्थ में उनका इस्तेमाल मौर्य-काल के बाद ही शुरू हुआ। *महाभारत* के युद्ध में योद्धा अपने रथों पर सवार होकर धनुष और बाण से लड़े। इससे लगता है कि उस वक्त तक कोई बड़ी घुड़सवार सेना नहीं बन सकी थी। हकीकत यह है कि घुड़सवार सेना का इस्तेमाल प्राचीन भारतीय युद्धों में बाद के दौर में शुरू हुआ, और उसने लड़ाई में रथों के इस्तेमाल का चलन खत्म कर दिया। सिकंदर ने पंजाब में इसे साबित कर दिया।

महाकाव्य की शुरुआत* भाटों द्वारा किए जाने वाले गुणगान के अंदाज में होती है। विजेताओं के दरबार में उनकी प्रशंसा के कई गीत

***दस्तावेज में Early homeric chants शब्द का प्रयोग किया गया है। होमर एथेंस के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन करने वाले यूनानी कवि थे। लेखक ने उनकी रचना के शुरुआती हिस्से से तुलना की है।**

गाए जाते हैं। लेकिन महाभारत में मायूसी भरे हालात पर बड़ा झीना-सा विजयी पर्दा पड़ा है और विजेताओं की अजीबोगरीब किस्म की बदकिस्मती का एहसास होता है। धर्म-कथाओं (जैसे कि कुरु धर्म जातक) में कुरुओं का जिक्र न जीते जा सकने वाले, लेकिन बेहद शरीफ और खानदानी लोगों के तौर पर मिलता रहता है। दूसरी ओर कृष्ण नारायण को महाकाव्य के पहले संबंधित ब्यौरे में ही कोई भूमिका नहीं दी गई है। अगर पढ़ने वालों को यकीन न हो रहा हो तो उन्हें मौजूदा *महाभारत* के आखिरी सर्गों (अध्यायों) को पढ़ना चाहिए। अंत में पांडव लाचारी-भरे बुढ़ापे की हालत में दिखते हैं, उन्हें वीराने में तन्हाई-भरी मौत गले लगानी पड़ती है। उनके दुश्मन स्वर्ग में दाखिल होते दिखते हैं, क्योंकि यह उनका हक बनता था। दूसरी ओर हमारे नायकों को उनके बड़े भाई युधिष्ठिर की काफी कोशिशों के बाद ही नर्क जैसी तकलीफों से छुटकारा मिल पाता है। यह सच्चाई सतही तौर पर जायजा लेने वाले इंसान के भी समझ में आ जाएगी कि उन्हें मिला स्वर्ग इंद्र और यम वाला वही पुराना स्वर्ग था। वहां कृष्ण नारायण प्रमुख भूमिका में नहीं हैं, बल्कि एक कोने में खड़े हाड़-मांस के महत्वहीन व्यक्ति हैं।

दिघनिकाय (दि.नि. 32) और 'एतरेय ब्रह्म' की (ए.ब्र. 8:14;

8:23) पौराणिक कल्पनाओं वाले पवित्र और अजेय उत्तर–कुरु कुल को ऐतिहासिक काल में दिल्ली–मेरठ के पास रहने वाला कुरु कुल समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। बुद्ध ने अपने कई उपदेश कुरु क्षेत्र में काम्मक्ष धम्म की बस्ती में दिए थे (*मज्झिम निकाय*)। लगता है, उन दिनों कुरुओं की राजधानी तुलाकोट्टिता (म.नि. 82) में थी, और गुमनाम–से मामूली कुरु कुल का मुखिया वहीं रहता था। वह शायद उन पांडव विजेताओं के खानदान का था, जिन्हें महाभारत महाकाव्य में सभी हदें तोड़कर बेहद बढ़ा–चढ़ाकर पेश किया गया है। यह मामूली–सा राज्य या तो धीरे–धीरे खुद मिट गया अथवा पंजाब पर सिकंदर के हमला करने से कुछ साल पहले मगध के सम्राट महल पद्मनंद ने दूसरे कई कुल–राज्यों की तरह उसे भी अपनी योजना के तहत मिटा दिया। हालांकि उसके बाद भी इस समुदाय को याद किया जाता रहा। *अर्थशास्त्र* की ग्यारहवीं पुस्तक में लिच्छवी और मल्ल कुलीन तंत्रों के साथ कुरु समुदाय का भी जिक्र है। लिच्छवी और मल्ल कुल के राज्य को 475 ई.पू. के लगभग नष्ट कर दिया गया था। लेकिन पुस्तक में कुरु समुदाय का जिक्र एक वर्गीय ढांचे वाले पूर्ण राज्य के रूप में नहीं, बल्कि एक जाति कुल के रूप में किया गया है। जहां तक नारायण का प्रश्न है, तो उनकी स्तुति करनेवाले 'नारायनम नमस्कृत्ये' वाले मशहूर बंद (stanza) को ही वी.एस. सुक्तंकर ने 1933 की अपनी टीका से पूरी तरह निकाल दिया था, जबकि उसकी वजह से पूरी मौजूदा *महाभारत* वैष्णव ग्रंथ का रूप ले लेती है। यह हाल ही में की गई जालसाजी है।

किस वर्ग के लिए?

हम जानते हैं कि *गीता* ने महात्मा गांधी, बाल गंगाधर तिलक, तेरहवीं सदी के मराठी समाज सुधारक ज्ञानेश्वर, उनसे भी पहले के वैष्णव आर्य रामानुज और उनसे भी पहले शंकर (शंकराचार्य) पर गहरा असर डाला। तिलक और गांधी दोनों ने भारत को अंग्रेजी हुकूमत से आजादी दिलाने के लिए जमकर लड़ाई लड़ी, लेकिन अपनी कार्रवाई के लिए

दोनों ने *गीता* से एक ही जैसी प्रेरणा नहीं ली। अरविंद घोष ने पूरे मन से *गीता* का अध्ययन करने के लिए खुद को भारत की आजादी की लड़ाई से ही अलग कर लिया। लोकमान्य तिलक को *गीता* पर ज्ञानेश्वर की टीका की जानकारी थी, पर उनकी लिखी *गीता रहस्य* पर ज्ञानेश्वर की टीका का जरा भी असर नहीं है। ज्ञानेश्वर ने खुद भी शंकर की टीका के ही ढंग से *गीता* की व्याख्या नहीं की। बड़े मुक्त ढंग से *गीता* की व्याख्या करते समय उन्होंने रामानुज की भी नकल नहीं की। दरअसल परंपरा के तहत तो उन्हें अनोखे ढंग के नाथ-संप्रदाय का सदस्य माना जाता है। रामानुज के वैष्णव मत ने शिव के पहले के अनुयायियों से तीखे विवाद की बुनियाद डाल दी। इन अनुयायियों का असर शंकर जैसी महान शख्सियत की वजह से बढ़ा था। लेकिन सवाल पैदा होता है कि शंकर को *गीता* की ओर रुख करने की जरूरत क्यों महसूस हुई?

इन सभी असाधारण चिंतकों को ऐसी कौन-सी जरूरत महसूस हुई, जो उसी दौर के अन्य लोगों, यहां तक कि उनके अपने वर्ग के लोगों, को भी महसूस नहीं हुई?

दरअसल वे सभी एक आरामतलब तबके से ताल्लुक रखते थे। कोई और बेहतर शब्द न मिलने की वजह से इस तबके को हिंदू कहा

जा सकता है। इस तबके से ताल्लुक रखने की वजह से उन चिंतकों की सोच में आई तरफदारी को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आम लोगों के बीच से आए कई ऐसे महान शिक्षक कवि थे, जिनकी इन लोगों के साथ तुलना की जा सकती है, लेकिन उन्होंने अपना कार्य *गीता* की मदद लिए बिना ही काफी अच्छी तरह किया। बनारस के जुलाहे कबीर की सीधी–सादी लेकिन गहरे भावों वाली सीखों को मानने वाले हिंदू और मुसलमान दोनों थे। तुकाराम को ज्ञानेश्वर के जरिए *गीता* की जानकारी थी, पर उन्होंने विष्णु की भक्ति अपने अंदाज में की। उन्होंने इंद्रायनी और पौना नदियों के संगम के पास बौद्धों की या कुदरत की बनाई पुरानी गुफाओं में बैठकर ईश्वर और अपने दौर के समाज के बारे में चिंतन किया। न तो संगीत की लय और साहित्य की खूबसूरती से सजी जयदेव की *गीत–गोविंद* (यह प्रेम और कृष्ण की रहस्यभरी भक्ति से सराबोर है) और न ही बंगाल के किसानों को अपने बहाव में बहा ले जाने वाले चैतन्य के वैष्णव सुधार ही *गीता* की नींव पर टिके थे। मुझे अब तक ऐसी कोई जानकारी नहीं मिली है कि कई धाराओं के मेल का इजहार करने वाले सिखों के प्रमुख धर्मग्रंथ पर *गीता* का कोई गहरा असर है, हालांकि

जयदेव और मराठी संत नाम देव की वजह से इसमें गीता के श्लोकों के भाव वाले कुछ छंद शामिल किए गए हैं। ज्ञानेश्वर ने उस समय के ब्राह्मणवादी विश्वासों को ठुकराकर अलंदी छोड़ दिया और सन् 1290 के लगभग रामचंद्र यादव के राज्य में गोदावरी के दक्षिणी तट पर शरण लेकर अपनी मशहूर टीका लोगों की जुबान में लिखी।

हमें शंकर और रामानुज के उन कार्यों के बारे में बहुत कम जानकारी है जिन्होंने इतिहास पर असर डाला। अगर हमें तिलक की केवल *गीता रहस्य* मिली होती, तो उनके कार्यों के बारे में भी हमारी जानकारी उतनी ही सीमित होती। फिर भी परंपराओं से मिली जानकारी से इतना जरूर मालूम होता है कि ईसा पश्चात 800 के आस-पास शंकर ने कुछ ऐसे कार्य किए थे, जिससे कई बौद्ध मठों का सफाया हो गया। आम तौर पर हिंदू मानते हैं कि ऐसा केवल उनके पैने तर्कों और बहस-मुबाहिसा (शास्त्रार्थ) करने की काबिलियत की वजह से हुआ। उनका नाम लिखी गई अनेक चीजों के साथ जोड़ा जाता है।

उनमें बौद्ध धर्म के उन सिद्धांतों का भी जिक्र है, जिनका शंकर ने खंडन किया था। लेकिन उनसे साफ जाहिर होता है कि उन्हें बुद्ध के असली उपदेशों की जरा भी जानकारी नहीं थी। मठों में बौद्ध धर्म जिस रूप में प्रचलित था, वह उसकी गिरावट का इजहार करता था। वहां बौद्ध धर्म ने लामावाद का रूप ले लिया और दौलतमंद विहारों का निर्माण किया जाने लगा। वे देश की अर्थव्यस्था पर भारी बोझ थे। हमें जो सबूत मिलते हैं, उनसे यह नतीजा निकालना वाजिब लगता है कि शंकर के कार्यों से इन विहारों के सफाए का सिलसिला तेज हो गया और रामानुज ने आम लोगों को धनी सामंतों के खिलाफ एक किस्म का हथियार दिया, क्योंकि आम लोग उनकी शिवभक्ति को ऊंचे लगान की जालिमाना हद की ऊंची वसूली से जोड़कर देखते थे। वरना यह समझ पाना काफी मुश्किल है कि धनी और कुलीन किसानों ने शिव को क्यों अपनाया और गरीब तथा निचले दर्जे के लोग इतने बड़े पैमाने पर विष्णु-भक्त कैसे बन गए।

यह मानना काफी कठिन है कि तीखे शैव (smart)- वैष्णव टक्कर के दौर में इन लोगों ने केवल धार्मिक मत में अंतर होने की वजह से हमले का निशाना बनना मंजूर किया होगा। शंकर ने उपनिषदों में ज्ञान के ऊंचे और नीचे दोनों स्तर ढूढ़ लिए। निचले स्तर से उन्हें हिंदू विश्वासों के पूरे ताने-बाने को सही ठहराने में मदद मिली, भले ही उनका कुछ भी मतलब निकलता हो, जबकि ऊंचे स्तर पर उन्हें किसी भी चीज में सत्य नहीं मिला। उनके बारे में यह सही कहा जाता है कि उनके तर्क इस मत के खंडन के साथ शुरू होते हैं- 'अ' 'ब' है, अथवा 'ब' नहीं है। उनका मानना था कि मौत के बाद आत्मा परम-ब्रह्म में विलीन हो जाती है, इसलिए उसके आनंद-भरे अस्तित्व के बने रहने का सवाल ही नहीं उठता। लेकिन रामानुज के मुताबिक, "अगर किसी रूप में ऐसी परम सत्ता का वजूद है भी, जिससे सभी चीजें उत्पन्न हुई हैं, तो भी आत्माओं और पदार्थ का अपना सच्चा वजूद है। इसीलिए जीवन के अंत का मतलब आत्मा का परम सत्ता (या परमात्मा) में लीन होना नहीं, बल्कि आत्मा का आनंदमय रूप में

कायम रहना है। यह स्थिति भक्ति यानी ईश्वर में विश्वास और उसके प्रति समर्पण के जरिए हासिल की जानी चाहिए।"

यह नहीं माना जा सकता कि इतने बारीक खयालों के बारे में पेश किए गए इन महीन-महीन तर्कों की वजह से ही लोगों में सीमित द्वैतवाद* (विष्णु-अद्वैत) का जुनून चढ़ा। इसके बावजूद सदियों तक उन्माद-भरा टकराव चलता रहा। गौरतलब है कि गो-मांस खाने वाले, बेहिचक और बिना कोई विरोध झेले ब्राह्मणों को उनके रुतबे से बेदखल करने वाले और किसी किस्म के दैवी कोप का सामना किए बिना मंदिरों को भ्रष्ट करने वाले मुसलमान हुक्मरानों की पूरी वफादारी से चाकरी करने से दोनों पक्षों ने परहेज नहीं किया।

*** यानी परमात्मा और आत्मा दोनों का वजूद कायम रहता है।**

मुख्य निष्कर्ष के तौर पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इंसान तय कर ले तो वर्गीय व्यवस्था की वैधता को बिना कोई चुनौती दिए ही *गीता* से कोई भी मतलब निकाल सकता है। ब्राह्मणों के लिए ग्रंथ के रूप में *गीता* एक ऐसा जरिया थी, जिससे वे जिस वर्ग के रहमोकरम पर कायम थे, उसके एक हिस्से को रास न आने वाले अपने कुछ सामाजिक कार्यों को, बिना किसी हिंसा के, ब्राह्मणवादी तौर-तरीकों से ही सही ठहराने की प्रेरणा और वैधता हासिल कर सकते थे। अब तक जितने उदाहरण दिए गए हैं, उनसे यह साफ जाहिर होता है कि इस कार्य में केवल निजी मतलबपरस्ती नहीं थी। अब हम यह देखेंगे कि इस ग्रंथ (*गीता*) ने यह खास मुकाम कैसे हासिल किया।

असाधारण क्षेपक

यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों ने ईश-कृपा का यह गीत केवल ऊंचे वर्गों के लिए गाया और अन्य लोगों तक इसे पहुंचाने के लिए उन्हीं को माध्यम बनाया। कृष्ण खुद अपने मुंह से कहते हैं (*गीता* 9:32): "मुझमें शरण लेने वाला, भले ही वह नारी, वैश्य और शूद्र जैसे पापी समुदायों का हो"- मतलब यह कि सभी औरतें और मेहनत तथा उत्पादन करने वाले सभी वर्गों के लोग जन्म से अपवित्र हैं, लेकिन ईश्वर में विश्वास रखने के कारण वे मृत्यु के बाद मुक्ति पा जाएंगे, उसी ईश्वर में विश्वास के कारण, जिसने उन्हें इस जीवन में इतनी लापरवाही से नीचे धकेल रखा है। इतना ही नहीं, यह अंतर ईश्वर ने खुद बना रखा है (*गीता* 4.13): "चारों जातियों (वर्गों) का भेद मैंने बनाया है।" यह घोषणा महान उपलब्धियां गिनाते समय की गई है।

बिना किसी शक के कहा जा सकता है कि ये सिद्धांत हर समय लागू नहीं थे। नैतिकता तभी वजूद में आती है, जब वह कोई सामाजिक जरूरत पूरी करती है। भोजन की वस्तुओं का उत्पादन करने वाला समाज (वह भोजन की चीजों को जुटाने वाले उन कबीलों के समूह से बिलकुल अलग ढंग का था, जो आपस में टकराते रहते थे।) काफी हाल में वजूद में आया है। यदि उसने इतिहास के किसी दौर में अपने कार्य करने की सहूलियत के लिहाज से बीते इतिहास की व्याख्या की, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वही व्याख्या अनंतकाल से होती रही है। *गीता* उस समय विकसित हो रहे हर सिद्धांत को बिना नाम लिए और बिना उसकी चीरफाड़ किए बड़ी खूबी के साथ पेश करती है।

अर्जुन जब-जब पूछता है कि "तब आप मुझे इतना घिनौना और अपनी ही कही बातों से उलटा कार्य करने के लिए क्यों कह रहे हैं?" तब-तब वह (*गीता*) बड़ी ही कुशलता के साथ अगले सिद्धांत की ओर बढ़ जाती है। इस तरह हमें ऐसी अनेक विचारधाराओं का काफी

अकलमंदी से किया गया विश्लेषण और संगम देखने को मिलता है (अगर इसे भावों की चोरी न माना जाए तो) जो कई लिहाज से एक-दूसरे से बेमेल थीं।

इस बेमेलपने को कहीं भी जाहिर नहीं होने दिया गया है। सभी विचार एक ही दिव्य मस्तिष्क के अलग-अलग पहलू के तौर पर पेश किए गए हैं। और यह तो कहा ही जाना था कि हर प्रणाली की सबसे अच्छी चीज इस उच्च कोटि के भगवान से ही उत्पन्न हुई है। वाद-विवाद भारतीय दर्शन की खासियत रहे हैं, मगर यहां कोई खंडन-मंडन देखने को नहीं मिलता, केवल मीमांसकों (मीमांसा, यानी तर्क-वितर्क से यह निश्चित करना की कोई वस्तु वास्तव में है अथवा नहीं है।) को प्रिय वैदिक अनुष्ठानों को पूरी तरह खारिज किया गया है। उपनिषदों के विचारों को उनके नाम का हवाला दिए बिना बखूबी पेश किया गया है, हालांकि भक्ति-भाव केवल *स्वेतास्वलर* उपनिषद में ही है। उसके अलावा पुनर्जन्म के बेहद लंबे सिलसिले के जरिए पूर्णता की स्थिति हासिल करने की वकालत करने वाले किसी और सिद्धांत में इसका आभास नहीं मिलता। दरअसल कर्म की भूमिका बौद्ध धर्म की अवधारणा है। बौद्ध धर्म न होता तो *गीता* के दूसरे अध्याय के 55-72 नंबर तक के श्लोक (जो महात्मा गांधी के आश्रम में रोजाना प्रार्थना के रूप में गाये जाते थे) वजूद में नहीं आ सकते थे। *गीता* के दूसरे अध्याय के 72 वें और पांचवें अध्याय के 25वें श्लोक में ब्रह्म-निर्वाण की जो धारणा प्रस्तुत की गई है, दरअसल वह कर्म के प्रभाव से मुक्ति की आदर्श स्थिति के बारे में बौद्ध नजरिया है।

इसी तरह सांख्य मीमांसा और उससे भी पहले की वेदांतिक विचार-परंपरा को भी नाम का जिक्र किए बिना ही पेश किया गया है (*गीता* 15:15, *गीता* के 13वें अध्याय के चौथे श्लोक में ब्रह्मसूत्र के उल्लेख से इसकी पुष्टि होती है।) इससे लगता है कि यह ग्रंथ ईसा पश्चात सन् 150-350 के बीच वजूद में आया। वैसे बाद वाली तारीख के आस-पास इसके वजूद में आने की अधिक संभावना है। इसमें सभी पुराने विचार पेश किए गए हैं, लेकिन शायद भक्ति की

धारणा नई है। *गीता* की भाषा ऊंचे स्तर की संस्कृत है, जो गुप्त वंश के शासन काल से पहले इस्तेमाल नहीं की जा सकती थी। हालांकि त्रिस्टुभों के छंद कहीं-कहीं बेततीब हैं (*गीता* 8.10, 8. 11ब, 15. 3अ, आदि)। वैसे ऐसी बेतरतीबी पूरे *महाभारत* में देखने को मिलती है। गीता की रचना के थोड़े समय बाद, यानी गुप्त काल के शानदार दौर की संस्कृत में काव्य-रचना सावधानी से की जाती थी।

यह तथ्य सबको मालूम है कि ऊपर बताए गए दौर में *महाभारत* और पुराणों में बड़े पैमाने पर संशोधन किए गए। खासतौर पर *महाभारत* भृगु कुल के ब्राह्मणों के हाथ में था और उन्होंने ही उसे उसके मौजूदा आकार तक बढ़ाया। (हालांकि उसके बढ़ाए जाने का सिलसिला बाद में भी चलता रहा।) कुछ ब्राह्मणवादी उपासना-पद्धतियों को शामिल करने के लिए पुराणों का लिखा जाना और दुबारा लिखा जाना भी जारी रहा। मुख्य पुराण समूह की अंतिम प्रतिक्रिया गुप्तकाल में देखने को मिलती है। गुप्तवंश उस समय तक फैजाबाद और प्रयाग के बीच स्थानीय शासक के तौर पर शासन कर रहा था। वह संदर्भ भी *गीता* के साथ बिलकुल सटीक बैठता है।

गीता की मौजूदगी का एहसास कराने वाला सबसे पहला जिक्र शायद ह्वेनसांग ने किया है। वह सातवीं सदी में भारत आया था। उसने एक ऐसे ब्राह्मण का जिक्र किया है, जिसने अपने राजा के कहने पर एक ऐसे ही मूल पाठ (जो शायद प्राचीन काल का था) का नकली रूप तैयार किया था और जिसे उन्हीं दिनों एक युद्ध छेड़ने के लिए ढूंढ निकाला गया था। हकीकत यह है कि अश्वल्यन गृह्य सूत्र के दौर में *भारत* और *महाभारत* ये दोनों ग्रंथ मौजूद थे। मौजूदा *महाभारत* की प्रस्तावना में भी यही जानकारी इस रूप में दी गई है कि इस बड़े संस्करण को प्रचलित किए जाने के समय में भी 24,000 श्लोकों वाला पुराना संस्करण भी प्रचलित था। दोनों संस्करणों को लिखने का श्रेय व्यास को देने की हर कोशिश की गई। कहा जाता है कि उन्होंने इन ग्रंथों के विस्तार का महान कार्य किया। उन्हें लगभग सभी पुराणों को लिखने का श्रेय भी दिया जाता है। 18 की संख्या इस ताने-बाने

की लगभग सभी चीजों से जुड़ती है। ऐसा लगता है कि इस पूरी जटिलता और उससे जुड़े ब्राह्मणों के लिए इस संख्या का विशेष महत्व था। ब्राह्मणों के 18 मुख्य गोत्र-कुल थे, हालांकि मुख्य ऋषि केवल सात थे। शायद यही वजह है कि इन 18 गोत्रों में से कई इस ढांचे में वाजिब ढंग से शामिल होते नहीं लगते, जैसे केवल (या केवल्य) भार्गव और केवल अंगिरस। पुराणों की संख्या 18 है और *महाभारत* में 18 पर्व हैं (हालांकि प्रस्तावना से पता चलता है कि पहले इसमें 100 सर्ग थे)। भारत युद्ध 18 दिनों तक चला था और इसमें दोनों तरफ से 18 अक्षौहिणी सेना ने भाग लिया था। गीता में भी 18 अध्याय हैं।

ऐसा बेवजह नहीं किया गया होगा। इस बात की उम्मीद नहीं की

जानी चाहिए कि पुराने *भारत* महाकाव्य में एक बनिस्बत छोटी, लेकिन मौजूदा *गीता* जैसी ही गीता रही होगी। हो सकता है कि उसमें युद्ध करने का आह्वान किसी रूप में शामिल हो। मौजूदा *गीता* के दूसरे अध्याय के 37 वें श्लोक में यह आह्वान शामिल भी है: "अगर तुम मारे गए तो स्वर्ग मिलेगा और यदि जीते तो धरती (का राज)। इसलिए हे कुंती-पुत्र, उठो और युद्ध में ध्यान लगाओ।" ये पंक्तियां पूरी तरह मौके के मुताबिक हैं। लड़ाई से पहले इस तरह के आह्वान करने का चलन हर जगह और हर वक्त में रहा है (यहां तक कि बेहद दुनियादार किस्म के *अर्थशास्त्र* में भी ऐसा करने के लिए कहा गया है, 10:3); और इसके लिए प्रार्थना, तंत्र-मंत्र, भाटों के गायन, मुनादी तथा कप्तान या राजा के भाषण जैसे तरीके अपनाए जाते रहे हैं। लेकिन यह चीज बिलकुल मुमकिन नहीं लगती कि जब एक-दूसरे की फौजों को ललकारते हुए शंख फूंके जा चुके हों और लड़ने-मरने पर उतारू दो विशाल सेनाएं एक-दूसरे से टकराने के लिए आगे बढ़ रही हों, उस हालात में नैतिकता के इस जटिल दर्शन पर तीन घंटे तक संवाद कैसे हुआ होगा। युद्ध के एक लोकप्रिय गीत के रूप में अपनी रीति को नई शक्ल-सूरत देने की कोशिश में लगे किसी ब्राह्मण को ही यह मुमकिन लग सकता है।

दो टूक लफ्जों में कहा जाए तो *गीता* की उपयोगिता उसकी इस खास ढंग की खामी में ही छिपी है और वह खामी है बेमेल चीजों में तालमेल बैठाना। महान देवता (कृष्ण) लगातार अहिंसा का गुण बखानते हैं, इसके बावजूद पूरा संवाद युद्ध के लिए प्रेरित करता है। इसीलिए गीता के दूसरे अध्याय के 19वें श्लोक में कहा गया है कि न तो किसी को मारना मुमकिन है और न ही किसी के हाथों मारा जाना। आत्मा ठीक वैसे ही पुराना शरीर बदलती है, जैसे कोई नया कपड़ा पहनने के लिए पुराना कपड़ा उतार देता है। इसे न तो हथियार काट सकते हैं और न ही आरा, पानी और आंधी इस पर असर डाल सकते हैं। गीता के 11वें अध्याय में भयभीत अर्जुन देखता है कि दोनों ओर के योद्धा कृष्ण के अनगनित मुंहों में समा रहे हैं और वे मुंह

उनको निगल या चबा रहे हैं। वे भयानक देवता नैतिकता का यह उपदेश खुद देते हैं (*गीता* 11:33): युद्ध के मैदान में मौजूद उन सभी योद्धाओं को दरअसल वे खुद मार रहे हैं, इसलिए अर्जुन का उनको मारना तो महज एक रस्म-अदायगी होगी, जिसके बदले में उसे धन-दौलत से भरपूर राज मिलेगा।

हालांकि *गीता* में आमतौर पर यज्ञ में दी जाने वाली बलि को तो कम महत्व दिया गया है या बिलकुल महत्व नहीं दिया गया है, पर इसके तीसरे अध्याय का 14वां श्लोक उसके महत्व को फिर स्थापित करता लगता है। इसमें उसे वर्षा कराने वाला बताया गया है, जिसके बिना न तो खाने-पीने की चीजें पैदा हो सकती हैं और न ही जीवन चल सकता है। यह चालाकी-भरी मौकापरस्ती पूरी किताब में नजर आती है। इसलिए इस पर अचरज नहीं होना चाहिए कि बहुत-से गीता-प्रेमी इसी रंग में रंगे नजर आते हैं। एक बार यह मनवा लेने पर कि दुनिया की हकीकत महज एक छलावा है, बाकी चीजें बड़ी आसानी से समझा दी गई हैं और केवल परस्पर-विरोधी विचारों के घाल-मेल को महत्व दिया गया है। साफ जाहिर है कि गीता एक नई रचना है और यह किसी पुराने तथा बनिस्बत छोटे धार्मिक उपदेश का विस्तृत रूप भर नहीं है।

अब मैं यह साबित करूंगा कि गीता जिस मकसद से लिखी गई थी, वह कई सदियों तक हासिल नहीं किया जा सका।

मकसद हासिल करने में नाकामयाब

यह जरूरी था कि निचले तबके के लोग गीता को सुनें, और उस पुराने युद्ध के योद्धाओं की बहादुरी के गीत सुनने के लिए लोग आए भी। इससे यह काव्य ब्राह्मणों के लिए उनके किसी भी मनचाहे सिद्धांत को इसमें शामिल करने का सबसे सुविधाजनक साधन बन गया। युगों पुरानी उपासना और विचार पद्धतियों को स्थापित करने के लिए यह पुराणों को दुबारा लिखने या नए पुराण लिखने से भी बेहतर साधन था। उनके लिए सरल संस्कृत भाषा काफी सुविधाजनक थी, क्योंकि प्राकृत

अनेक क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में टूट रही थी। इसके अलावा ऊंचे तबके के लोग संस्कृत का अधिक से अधिक इस्तेमाल करने लगे थे। कुषाण और सतवाहन वंश के शासन के दौरान पत्थर की पाटियों पर लिखे गए लेख आम भिक्षुओं और व्यापारियों की बोलचाल की भाषा में लिखे गए हैं, लेकिन सन् 151 के बाद एक नए ढंग का राजा दिखता है, जो अपनी कामयाबियों और संस्कृत के ज्ञान का बखान बड़ी ही सजावटी संस्कृत में करता है। (ऐसे राजा जिनमें अधिकांश रुद्रदमन की तरह विदेशी मूल के थे।) बौद्धों के शिक्षक ने उन्हें आम लोगों की भाषा इस्तेमाल करने की शिक्षा दी थी, लेकिन उन्होंने उसे नजरअंदाज करना शुरू कर दिया और संस्कृत को अपना लिया। दरअसल, उच्च-स्तरीय संस्कृत का सुनहरा दौर अश्वघोष की रचनाओं की तरह के भाव-भरे नाटकों और कविताओं के साथ शुरू होता है। उन दिनों संस्कृत को समर्थन देने वाला कुलीन तबका और संस्कृत को जानने वाला पुजारी तबका दोनों मौजूद थे।

महाभारत में कथाएं और उपकथाएं जोड़ने पर किसी ने एतराज नहीं किया। वैसे भी *महाभारत* के बारे में कहा गया है कि उसे नैमिष वन में उग्रस्रावस नाम के एक भाट ने साधु-संतों के जमावड़े के आगे सुनाया और उसने वही चीजें दुहराईं जिन्हें संजय धृतराष्ट्र को सुना चुका था। बाद में उन्हें व्यास ने जनमेजय को सुनाया। ब्राह्मणों को *गीता* की प्रामाणिकता को लेकर कोई एतराज नहीं था, बल्कि वे इसलिए नाखुश थे कि उन्हें उससे उम्मीद के मुताबिक फायदे नहीं मिल पा रहे थे। इसीलिए उन्हें महाभारत के 14 वें अध्याय (अश्वमेध पर्व) में *अनुगीता* के रूप में एक और महत्वपूर्ण कड़ी जोड़नी पड़ी। अर्जुन से कहलवाया गया कि वह युद्ध से पहले कृष्ण द्वारा दिए गए सभी अच्छे उपदेशों को भूल चुका है। वह उनसे फिर उपदेश देने की विनती करता है। इस पर कृष्ण कहते हैं कि खुद उनके लिए उन्हें याद कर पाना नामुमकिन है और उस महान प्रयास को दुहराने की कोशिश करनी भी नहीं चाहिए। खैर, उसकी जगह एक बेहद रद्दी किस्म की दूसरी *गीता* पेश की गई, जो केवल ब्राह्मणों और ब्राह्मणवाद की तारीफ

करती है। साफ जाहिर है कि *महाभारत* का विस्तार करने वालों को उस वक्त इसकी जरूरत महसूस हुई, हालांकि आजकल उसे कोई नहीं पढ़ता और पहली *गीता* से इसका कोई मुकाबला ही नहीं है।

दूसरा तथ्य यह है कि अगर कोई क्षत्रिय युद्ध सामने होने की हालत में अपना ध्यान उधर से हटाकर इसका एक अंश भी समझने के लिए अपना अच्छा-खासा वक्त लगाता, तो भी यह उसके लिए शायद ही मददगार साबित होती। *गीता* से साफ तौर पर यह सीख मिलती है- फर्ज की मांग हो तो किसी जज्बात में बहे बिना अपने भाई को भी मारो; अगर तुम्हें मुझमें (ईश्वर में) यकीन है तो तुम्हारे सभी पाप माफ हैं। भारत का इतिहास बताता है कि गद्दी के लिए भाई-भाई तो क्या, बाप-बेटे भी आपस में बेहिचक लड़े-मरे हैं और इसके लिए उन्हें किसी किस्म के ईश्वरीय निर्देश की जरूरत महसूस नहीं हुई। इंद्र ने अपने ही पिता को पैरों से रौंदा और मार डाला (*ऋग्वेद* 4:18:12) और उसके उस कारनामे की ब्राह्मण वामदेव ने तारीफ की। मगध के राजा अजातशत्रु ने गद्दी पाने के लिए अपने पिता बिंबिसार को कैद कर लिया, फिर उस बूढ़े को कैद में ही मार डाला। उसके बावजूद बौद्धों और जैनियों ने और उनके साथ ही *बृहद्रयक उपनिषद* (2:1) ने एक अकलमंद और काबिल राजा के तौर पर उसकी तारीफ की। उसने भारत में पहला विशाल साम्राज्य कायम किया था। *अर्थशास्त्र* में (अ:1:17:18) इस तरह के महत्वाकांक्षी उत्तराधिकारियों के बारे में एक पूरा अध्याय ही है। उसमें बताया गया है कि यदि उत्तराधिकारी को ताज पहनने की जल्दी हो तो वह राजा को कैसे मौत दे सकता है। खुद कृष्ण को कुरुक्षेत्र में दुश्मन पक्ष की ओर से लड़ रही अपनी यादव सेना के नाश के लिए उसकी ओर केवल इशारा भर करना था। धर्म ग्रंथों के अनुसार, अंततः यादव आपस में ही लड़-भिड़कर खत्म हो गए। उससे पहले कृष्ण ने अपने मामा कंस का वध किया था। इस कहानी से तब एक नया मतलब और असर जाहिर होने लगता है, जब हम इस पहलू पर गौर करते हैं कि मातृसत्ता वाले दौर में नया सरदार हमेशा भांजा होता था।

तीसरा तथ्य यह है कि *महाभारत* में कृष्ण जिस रूप में दिखाई देते हैं, उस रूप में वह किसी नैतिक सिद्धांत की व्याख्या करने के लिए बेहद गैरवाजिब शख्स लगते हैं। इस महाकाव्य के सबसे बड़े पर्व (शांति) पर *महाभारत* के सबसे सम्मानित चरित्र भीष्म पितामह छाए हुए हैं। उसमें वह तीन महत्वपूर्ण मुद्दों– राजकला (राज–धर्म), आपत्ति काल से निपटने की कला (आपद्–धर्म) और मुक्ति (मोक्ष–धर्म)– के बारे में नैतिक शिक्षा देते हैं। प्रतिनिधि शासक के रूप में उन्होंने उस राज्य का राज–काज संभाला, जिस पर से उन्होंने अपना अधिकार अपनी मर्जी से छोड़ दिया था। जिंदगीभर उनकी वफादारी पर कोई सवालिया निशान नहीं लगा। उनकी बहादुरी का कोई जवाब नहीं था और उन्होंने अतुलनीय वीरोचित गौरव का परिचय दिया। किसी भी इंसान को केवल इस बात पर अफसोस हो सकता है कि एक ऐसा इंसान, जो साही (एक जानवर) की तरह अपने ही कांटों पर लटका हुआ मौत की घड़ियां गिन रहा हो, उससे इतने सारे शब्द कहलवाए गए।

अब जरा कृष्ण को देखिए। युद्ध में जब भी संकट की घड़ी आई, तो उन्होंने धूर्तता की इंतहा–भरी सलाह देकर जीत दिलाई और उनकी सलाह की वजह से लोगों के साथ ऐसी चीजें हुईं, जो उनके साथ कभी नहीं होतीं। भीष्म को मारने के लिए ढाल के तौर पर शिखंडी का इस्तेमाल किया गया, जिस पर सही मायने में वीर कहा जा सकने वाला वह योद्धा (भीष्म) इसलिए हथियार नहीं उठा सकता था कि शिखंडी किन्नर था। द्रोण को उस समय मौत के घाट उतारा गया, जब वह अपने बेटे की मौत की जान–बूझकर दी गई झूठी खबर सुनकर सन्न हो गए थे। कर्ण को बहादुरी के सभी उसूलों को ताक पर रखकर उस समय मार गिराया गया, जब वह रथ से नीचे उतरा हुआ और निहत्था था। दुर्योधन को मारने के लिए गदा–युद्ध के नियमों के विपरीत उसकी जांघ तोड़ दी गई। यह उनके अन्यायों की पूरी सूची नहीं है। शल्य पर्व के अंत में जब उन पर युद्ध की मर्यादा तोड़ने का इल्जाम लगाया जाता है तो वे बेहिचक कहते हैं– उन लोगों को किसी

और तरीके से नहीं मारा जा सकता था और ऐसा किए बिना युद्ध नहीं जीता जा सकता था। *अर्थशास्त्र* में कपट के जो नपे-तुले तरीके बताए गए हैं, वे *भगवद्गीता* के इस दैवी सिद्धांतकार के कार्यों में पूरी तरह झलकते हैं। इसीलिए *गीता* के आधुनिक व्याख्याकार राजा जी (सी. राजगोपालाचार्य) जब खुलेआम घोषणा करते हैं कि अहिंसा सत्ता हथियाने का बहुत अच्छा तरीका है, पर सत्ता हासिल होने के बाद उसे त्याग दिया जाना चाहिए, तो वे कृष्ण की सोच को ही जाहिर करते हैं। राजा जी कहते हैं– "जब आप कोचवान की सीट पर बैठे हों, तो कोड़े का इस्तेमाल करना चाहिए।"

कृष्ण ही क्यों?

जिस तरह *महाभारत* का इस्तेमाल एक जरिए के तौर पर इसलिए किया जा सका कि लोग युद्ध की कहानी सुनने आते थे, उसी तरह कृष्ण भी तभी फायदेमंद साबित हो सकते थे, जब उनके भक्ति-संप्रदाय की लोकप्रियता बढ़ रही होती। लेकिन बिना किसी छिपाव के लोगों को अपने सांचे में नए सिरे से ढालने के लिहाज से वह उस समय तक अधकचरी हाल में था। नारायण संप्रदाय में साफतौर पर कई उपासना-परंपराओं के बीच तालमेल बैठाया गया था। नारायण से सरोकार कायम करने के लिए मूलरूप में अलग पहचान रखने वाली कई उपासना-परंपराओं को एक ही उपासना-परंपरा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस कोशिश के तहत कई लोककथाओं को कृष्ण कथा में शामिल कर लिया गया, भले ही उनके नायकों का कृष्ण

से कोई संबंध न रहा हो। वैसे एक बिलकुल नया संप्रदाय बनाने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि ब्राह्मणों का ध्यान कृष्ण की ओर जाने से पहले भी आम लोगों में उनकी पूजा का कोई रूप या कई रूप चलन में थे। इस तरह का सबसे बेहतर और ताजा उदाहरण सत्य–नारायण, यानी असली नारायण का है। उनकी कथा पूरे देश में बेहद लोकप्रिय है, लेकिन धर्मग्रंथों में उसका कोई जिक्र नहीं मिलता। 200 साल पहले तक उसका उल्लेख कहीं नहीं किया गया। बेशक, इसकी शुरुआत बंगाल के सत्य पीर से हुई है। उनकी कहानी वहां काफी लोकप्रिय है। धीरे–धीरे सत्य पीर सत्य–नारायण बन गए।

वेदों में विष्णु का जिक्र है, पर नारायण का नहीं। नारायण शब्द का जन्म इस कल्पना के आधार पर हुआ लगता है कि वे बहते हुए जल (नर) पर सोते हैं। कल्पना की गई है कि वे बिलकुल स्थिर स्थिति में सोते हैं। यह कल्पना पूरी तरह प्राचीन इराक (मेसोपोटामिया या सुमेरिया) के देवता ईआ या ईंकी से मिलती है। कई सुमेरियाई कथाओं और प्रतीकों के मुताबिक वह देवता पानी के बीच स्थित अपने कक्ष में सोता है। पानी के लिए इस्तेमाल किया गया शब्द 'नर' (बहुवचन) भारतीय–आर्यभाषाओं का नहीं है। नारायण देवता और नर शब्द इन दोनों का ताल्लुक सिंधु घाटी की सभ्यता से लगता है। इस शब्द का संस्कृत में काफी बाद में दिखना केवल यह जाहिर करता है कि नारायण–कथा का चलन करने वालों का सामाजिक धारा में शांतिपूर्ण सम्मिलन काफी बाद में किया गया। वैसे शुरू के तीन अवतारों मत्स (मछली), कच्छप (कछुआ) और वाराह (सुअर) का रिश्ता प्रलय (भारी बाढ़) और सृष्टि (समाज की रचना) से जोड़ा गया है। मानसूनी वर्षा से गहरा संबंध रखने वाले देश में यह

बेहद स्वाभाविक लगता है। इन अवतारों का ताल्लुक निश्चित तौर पर उस दौर के आदिम समाज से लगता है, जब टोटम (आदिम समाज में हर कबीला किसी जानवर, पक्षी या प्रकृति की किसी चीज की पूजा करता था। उसे टोटम कहा जाता है।) की पूजा की जाती थी। मत्स्य के भी सुमेरियाई जोड़ीदार हैं। गीता में कृष्ण इन नारायण का एक कार्य करते नजर आते हैं, और वह है विश्व रूप दर्शन, जिसमें वह दिखाते हैं कि पूरा संसार ईश्वर में समाया हुआ है; और वह निजी तौर पर हर नस्ल (प्रजाति) की सबसे बेहतर चीज के नुमाइंदे हैं। हालांकि लोग इस बारे में *गीता* के जरिए वाकिफ हैं (गीता 10:11), पर इस बारे में *महाभारत* में ही एक काफी पुराना ब्यौरा मिलता है, जिसमें कृष्ण का कोई जिक्र नहीं है(*महाभारत* 3. 186. 39-112)। उससे मालूम होता है कि सर्वव्यापी नारायण को काफी पहले ही ईजाद कर लिया गया था।

ऋग्वेद की एक मशहूर लेकिन काफी बाद में रची गई ऋचा में

वाणी की देवी वागांभृणी कहती है कि वही रुद्र का धनुष धारण करती हैं और वही उनका सोम (एक प्रकार की मदिरा) एवं दुनिया की सभी सर्वश्रेष्ठ चीजों में मौजूद तत्व हैं। दरअसल, हर प्रकार के कुकर्म करने के बावजूद सभी पापों से बरी माने जाने वाले मूल देवता उपनिषदों के इंद्र हैं। वह प्रतर्दन दिवोदास से कहते हैं, "तुम केवल मुझे जानो, मेरा यह कहना बिलकुल सच है कि इंसान की सबसे अधिक भलाई मुझे जानने से ही होगी। मैंने तीन सिरों वाले *त्वास्त्र* का वध किया, *अरुरमाघ* तपस्वियों को भेड़ियों के आगे फेंक दिया और अनेक संधियों का उल्लंघन करके और खदेड़-खदेड़ कर प्रह्लाद कुल के लोगों का स्वर्ग में, पौलोम कुल के लोगों का ऊपरी वायुमंडल में और कलकंज कुल के लोगों का पृथ्वी पर नाश किया। तब से लेकर अब तक मुझमें रत्ती भर बदलाव नहीं आया है। इसलिए जो मुझे समझता है, उसके सांसारिक जीवन को कोई नुकसान नहीं हो सकता, चाहे वह अपनी सगी मां को मारे, अपने सगे बाप को मारे, डाका डाले, भ्रूण

हत्या करे या अपने रंग-रूप को मुर्झा देने वाला कोई और पाप करे।" (कौस, *ब्रह्म उपनिषद* 3.2)। गौरतलब है कि जिन राजाओं के लिए *अर्थशास्त्र* लिखा गया था, उनके लिए भी संधियों का उल्लंघन करना आम बात थी। हालांकि उसी किताब में यह भी लिखा गया है कि पुराने जमाने में केवल जबानी तौर पर की गई संधि भी पवित्र (यानी लागू) मानी जाती थी। इंद्र ने ये सभी घिनौने कार्य वैदिक परंपरा के तहत ही किए, पर वह परंपरा उनसे कहीं भी यह नहीं कहलवाती कि वे भक्ति के अंतिम लक्ष्य हैं।

दरअसल पाप और भक्ति, वैदिक धारणाएं हैं ही नहीं। कोई भी वैदिक देवता उस तरह का पूर्ण क्षमादान नहीं दे सकता, जैसा कृष्ण देते हैं। *गीता* के 18वें अध्याय के 66वें श्लोक में वह कहते हैं: "सभी (अन्य) विश्वासों, धार्मिक विधियों और रीतियों को त्याग कर केवल मेरी शरण में आओ; मैं तुम्हें हर पाप से मुक्ति दिलाऊंगा, डरो मत।" कृष्ण की तरह इन्द्र यह वादा इसलिए नहीं कर सके कि पुराने युग का वह देवता अनगिनत वैदिक सूक्तों से घिरा और यज्ञ-अग्नि के धार्मिक अनुष्ठानों (विधियों) से बंधा हुआ था। वह उन बर्बर आर्यों के लड़ाकू नेता की मिसाल था, जो अपने समर्थकों के साथ मदिरा पीकर उन्हें युद्ध में जीत दिला सकता था। उसकी चमक को बौद्ध धर्म ने काफी मंद कर दिया। बौद्धों ने यज्ञ को पूरी तरह खारिज कर दिया और नैतिकता तथा सामाजिक न्याय की बिलकुल नई धारणा पेश की। इंद्र का ताल्लुक पूरी तरह से कांसे से बने हथियारों-औजारों और सामानों का इस्तेमाल करने वाले दौर से था। उस वक्त का समाज मुख्य रूप से चरवाहा समाज था, जो कृषि उत्पादन वाले समाज के विकास की वजह से मिट गया।

सामाजिक बदलाव की वजह से होने वाले टकराव की झलक कृष्ण, या यूं कहें कि कई कृष्णों में से एक कृष्ण में भी देखने को मिलती है। इंद्र से उनकी दुश्मनी की झलक ऋग्वेद में उस जगह दिखाई देती है, जहां लूटमार करने वाले आर्यों और यहां आर्यों के आने से पहले से बसे काले लोगों के ऐतिहासिक युद्ध का जिक्र है। वैसे

काला रंग कोई बहुत बड़ी रुकावट नहीं था। कृष्ण अंगिरस नाम के एक वैदिक ऋषि का उल्लेख है। 'यदु' नाम का एक वैदिक कुल भी था, लेकिन ऐसा नहीं लगता कि उससे किसी भी कृष्ण का ताल्लुक था। हालांकि युद्धबंदी के रूप में उनका उल्लेख ('बंदी यदु') मिलता है। *छांदोग्य उपनिषद* 3.17-17 के अनुसार, देवकी-पुत्र कृष्ण को घोर अंगिरस ऋषि ने कुछ नैतिक उपदेश दिए थे। महानुभाव पंथ के लोग समीपाणि को कृष्ण का गुरु मानते हैं और कुछ लोग उनके गुरुओं की सूची में क्रोधी दुर्वासा को भी शामिल करते हैं। कंस को मारने वाला कसरती कृष्ण अखाड़े में किसी को भी पछाड़ने का दम रखता था। भले ही वह कृष्ण न हो जिसने मथुरा के पास की यमुना नदी में उपद्रव मचा रहे अनेक सिरों वाले कालिय नाग का मान-मर्दन किया था। सिकंदर के हमले के वक्त यूनानियों को भारत में कृष्ण-भक्ति जब इस रूप में दिखी तो उन्होंने स्वाभाविक रूप में उनकी तुलना अपने हेराक्लीस से की।

कृष्ण-कथा (मिथक) की एक घटना भारतीयों को अब भी उलझन में डालती है, लेकिन यूनानी इस तरह की घटनाओं से अच्छी तरह वाकिफ रहे हैं। अवतारी कृष्ण को उनके पांव में तीर मारकर जिस तरह मौत के घाट उतार दिया गया, वह घटना भारतीय परंपरा के लिए बिलकुल अनोखी है; लेकिन एकिलीस और कांस्य युग के अन्य नायकों को भी ऐसी ही मौत मिली थी। इसके अलावा अधिकतर ब्यौरों में उन पर तीर चलाने वाले जरा को कृष्ण का आधा भाई बताया गया है। स्पष्ट है कि वह अपने पिता द्वारा त्यागी हुई संतान था, जिसे अपने बड़े जुड़वा भाई को मारना पड़ा। कृष्ण खुद भी पछतावे से भरे अपने हत्यारे को दिलासा देते हैं और उसे यह कहकर पाप मुक्त कर देते हैं कि उनका खुद का समय पूरा हो गया है, 'पवित्र राजा' की मियाद पूरी हो चुकी है। यह अंदाज लगाया जा सकता है कि इंद्र और शायद कृष्ण द्वारा भी बुनियादी तौर पर किए गए अक्षम्य पाप दरअसल मातृसत्ता की रीतियों का उल्लंघन थे। आदिम समाज में ऐसा सोचना भी नामुमकिन था। पर उन्होंने वे पाप किए और अपनी जीत का डंका बजाते हुए

कायम रहे, बल्कि यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जो पाप किए, उनके मुकाबले में बाकी सभी पाप फीके पड़ जाते हैं। कृष्ण की परवरिश गोकुल में हुई थी। वहां चरवाहों का समुदाय था, जहां निश्चित रूप से पितृसत्ता थी। लेकिन उन्होंने लीलाएं वृंदावन में कीं, जहां देवी मां की सत्ता थी। तुलसी के पौधे को देवियों के एक समूह (वृंदा) के प्रतीक के रूप में देखा जाता है। कृष्ण को उस देवी से विवाह करना पड़ा। अब भी हर वर्ष उससे उनका विवाह कराया जाता है, हालांकि उसे कृष्ण की सामान्य पत्नियों में शामिल नहीं किया जाता। शुरुआती दौर में देवी की नुमाइंदगी करनेवाली पुजारिन का किसी से प्रतीकात्मक विवाह कराया जाता था और उसके पुरुष संगी की हर वर्ष बलि दे दी जाती थी। बाद में कृष्ण की बलि देने की परंपरा समाप्त हो गई और उन्हें पति मान लिया गया। हेराक्लीस और थीसियस की तरह कृष्ण भी प्राचीन रीतिरिवाजों को तोड़ने वाले लगते हैं।

हेराक्लीस ने भी हाइड्रा का सिर काटा था, जिसे प्राचीन काल की सुमेरियाई नक्काशी में दर्शाया गया है। पर कृष्ण द्वारा नाग का मानमर्दन

किए जाने की घटना से शायद अधिक गहरा मतलब निकलता है। नाग उस जगह का संरक्षक देवता था। शायद वहां उसकी पूजा करने की स्थानीय परंपरा भी थी। नाग को मारने की बजाय केवल रौंदने (मानमर्दन) की घटना से संकेत मिलता है कि किसी न किसी रूप में नाग-पूजा की परंपरा कायम रही, जिसकी तुलना महिषासुर मर्दिनी (दुर्गा) से की जा सकती है। इस तरह की उपासना-परंपराएं आज भी कायम हैं। उदाहरण के तौर पर, उड़ीसा में मणिनाग की पूजा की परंपरा सदियों से चली आ रही है। नीलात्मत-नाग कश्मीर का आदिम देवता था। ब्राह्मणों ने उस पर अलग से एक पुराण ही लिख डाला। थानेसर के राजा पुष्यभूति को श्रीकांत नाग से युद्ध करना पड़ा। इस तरह के संरक्षक नागों का वजूद 10वीं सदी में लिखी गई रचना *नवसहशंक करितो* में भी देखने को मिलता है। इस प्रकार हमारे नायक (कृष्ण) के भक्तों की अच्छी-खासी जमात भारत में ईसा से तीन सदी पहले भी मौजूद थी।

शुंग वंश के शासनकाल के बाद के दौर में उन्हें भागवत् कहा जाने लगा था, जो बुनियादी तौर पर बुद्ध की उपाधि थी। भील के नजदीक मौजूद एक स्तंभ पर खुदे लेख में एक यूनानी दूत हेलीडोर कृष्ण-उपासना को स्वीकार करने की घोषणा करता मिलता है। कृष्ण का संबंध आर्यों के आने से पहले से बसे लोगों से था, यह तथ्य पाणिनी के एक संदर्भ से भी स्पष्ट होता है (पाणिनी 4.3.98, पाणिनी के टिप्पणीकार पातंजलि ने इसको भुला दिया है)। इसमें कहा गया है कि न तो कृष्ण को क्षत्रिय माना जाता था, न ही अर्जुन को। लेकिन इसमें शक नहीं कि वे काफी पुराने देवता हैं, क्योंकि वही ऐसे देवता हैं, जो हथियार के तौर पर हाथ से फेंके जाने वाले धारदार चक्र का इस्तेमाल करते हैं। वेदों में इस अस्त्र (फेंका जा सकने वाला हथियार) का जिक्र नहीं। बुद्ध के समय में भी इसका इस्तेमाल नहीं किया जाता था। इतिहास में इसकी मौजूदगी का सबूत केवल मिर्जापुर की एक गुफा में बने चित्र से मिलता है। इसमें घोड़े-जुते रथों पर सवार हमलावरों को दिखाया गया है (जो साफ तौर पर पत्थर युग के उन

आदिवासी चित्रकारों के दुश्मन थे), जिनमें से एक इसी तरह का चक्र फेंक रहा है। उस घटना और उस चित्र को ईसा से कम से कम 800 वर्ष पहले का माना जा सकता है। उस समय तक हमारे श्याम रंग के देवता (कृष्ण) आदिवासी नहीं रह गए थे। उन्हें देवदूतों की जमात में शामिल कर लिया गया था।

दूसरी सदी में वृणी नाम के एक कुल की मौजूदगी का सबूत देने वाला एक सिक्का पंजाब में होशियारपुर के पास स्थित ब्रिटिश म्युजियम में रखा है। कृष्ण की जमात के लोग जरासंध के डर से मथुरा छोड़ने पर मजबूर हुए थे और उन्हें पहाड़ों से घिरे हुए द्वारका शहर को बसाने के लिए पश्चिम की ओर जाना पड़ा था। अधिक संभावना यह है कि वह शहर काठियावाड़ बंदरगाह के पास नहीं, बल्कि अफगानिस्तान में मौजूद दरवाज के पास था।

बौद्ध धर्म के महामयूरी मंत्र में (तीसरी सदी के लगभग) विष्णु को द्वारका का रक्षक यक्ष कहा गया है। उस मंत्र में द्वारका के रूप में चाहे जिस शहर का जिक्र किया गया हो, पर खास चीज यह है कि उसमें कृष्ण का नहीं, बल्कि विष्णु का जिक्र किया गया है (सिल्वैन लेवी, एशियाटिक जरनल, सन् 1915. 19-138, संस्कृत पाठ्य की 13वीं पंक्ति)। जहां तक दक्खन (कर्नाटक और उसके आस-पास का क्षेत्र) के यादवों का सवाल है, तो जिन ब्राह्मणों ने उनसे श्याम वर्णी देवता (कृष्ण) का संबंध जोड़ने वाली वंशावली गढ़ी, उनका मकसद केवल उस कुल के मुखिया को आस-पास की आबादी से बड़ा साबित करना था।

गीता के चौथे अध्याय के सातवें श्लोक में एक उपयोगी मसीहाई पहलू भी मौजूद है। प्राचीन काल के कई कृष्णों और पुनर्जन्म में लोगों के मौजूदा यकीन होने की वजह से विभिन्न धाराओं का समन्वय करके अवतारों को गढ़ना मुमकिन हो सका। उनकी वजह से भक्त यह भरोसा कर सकते हैं कि उन्हें संसार की तकलीफों से छुटकारा दिलाने के लिए एक नया अवतार पैदा होगा, ठीक वैसे ही, जैसे कि उसे अगले जन्म में मुक्ति पाने की उम्मीद रहती है।

समन्वय कब कारगर होता है?

विष्णु नारायण के अवतारों की ही तरह अनेक कृष्णों ने भी कई उपासना–पद्धतियों को एक ही उपासना–पद्धति में शामिल करना मुमकिन बना दिया और ऐसा करने के लिए किसी तरह की हिंसा, तोड़–फोड़ और लड़ाई–झगड़े का सहारा नहीं लेना पड़ा। वैसे नटखट और प्यारे से चरवाहे कृष्ण का कई पत्नियों के गैर–मामूली मर्दानगी वाले पति कृष्ण से कोई तालमेल नहीं बैठता। दरअसल उनकी पत्नियों के रूप में जिन नामों का जिक्र मिलता है, हकीकत में वे स्थानीय स्तर की देवियां थीं और उन सबका अपना–अपना प्रभाव था। उनके 'पति' (यानी कृष्ण) की मदद से माता की सत्ता वाली व्यवस्था को पिता की सत्ता वाली व्यवस्था में बदलना आसान हो गया। इससे बुनियादी उपासना–पद्धतियों को थोड़े निचले स्तर पर जारी रखना भी मुमकिन हो गया। शिव–पार्वती के मामले में यह कारीगरी अधिक बेहतर ढंग से दिखाई देती है। शिव के एक रूप को अर्ध–नारीश्वर (आधा शिव, आधा पार्वती), यानी उभयलिंगी रूप में भी दिखाया गया। ऐसा करने

का मकसद केवल इतना था कि दोनों उपासना-पद्धतियों में कोई अलगाव महसूस न हो। कभी स्वतंत्र सत्ता के रूप में पूजी जाने वाली उस देवी द्वारा मारे गए असुर, महिषासुर (महसोबा) की उनके मंदिर के पास कभी-कभी (जैसे कि पुणे में) पार्वती पहाड़ों की तलहटी में अब भी पूजा होती है। कहीं-कहीं (जैसे, वीर में) उस असुर को एक अन्य देवी जोगू बाई का पति बताया जाता है। अब उस देवी को दुर्गा का ही एक रूप मान लिया गया है। दूसरी ओर पास ही की एक और पहाड़ी पर एक अन्य देवी तुकई को उसे भैंसेनुमा असुर को मारते हुए दिखाया गया है। गौरतलब है कि उसे भी दुर्गा का एक रूप माना जाता है। प्राचीन काल में नाग-पूजा का बहुत बड़े पैमाने पर चलन था। उसे अपने दायरे में शामिल करने के लिए नाग को शिव के गले में पहना दिया गया। उसे एक ऐसे छतरी वाले बिछौने का रूप दे दिया गया, जिस पर जल में तैरते नारायण निरंतर सोते रहते हैं। और उसे गणेश के हाथों में भी थमा दिया गया। शिव को नंदी सांड की पीठ पर सवार दिखाया जाता है, पर उस रूप में शिव को दर्शाए जाने से काफी पहले से ही पत्थर युग के लोग नंदी की पूजा करते रहे हैं। मूर्ति-विज्ञान की पेचीदगियों और देव-परिवारों का अध्ययन करके इस सूची को और बढ़ाया जा सकता है। गणेश के जानवरों के सर और इंसान के जिस्म को देखते हुए उनकी तुलना यूरोप की गुफाओं में हिमयुग के मानव द्वारा बनाए गए जादू-टोने वाले पैशाचिक चित्रों से की जा सकती है।

यह खूबी 'भारतीय चरित्र' में शामिल है और *गीता* के दर्शन में भी यही नजरिया दिखता है। वैदिक यज्ञों के अलावा पहले से चले आ रहे किसी अन्य सिद्धांत के खिलाफ हिंसा का सहारा नहीं लिया गया। एक बेहद सजग दिमाग ने सभी सिद्धांतों से जरूरी चीजें लीं। उसमें तालमेल बैठाने वाले नजरिए से उन सभी का गहराई से अध्ययन करने की काबिलियत थी। उसने बिना कोई टकराव पैदा किए सभी सिद्धांतों की आवश्यक चीजों के बीच समन्वयकारी कुशलता और साहित्यिक कौशल से तालमेल बैठाया और उन्हें भक्ति के सीमेंट से एक-दूसरे से जोड़ दिया। लेकिन भारतीय चरित्र ने इस सहनशीलता का परिचय

हमेशा नहीं दिया। ऐसे भी दौर आए हैं, जब लोग सिद्धांतों, धार्मिक विधियों और उपासना-पद्धतियों को लेकर एक-दूसरे से लड़े-भिड़े हैं। कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन शिलादित्य (सन् 600-640 के लगभग) को गौरी, माहेश्वर शिव और सूर्य की उपासना एक साथ करने में कोई दिक्कत महसूस नहीं होती थी। वह बौद्ध धर्म को भी पूरा संरक्षण देता था। लेकिन उसके दुश्मन नरेंद्र गुप्त शशांक ने मगध पर बंगाल से धावा बोल दिया। उसने गया के बोधि-वृक्ष को काट डाला और जहां कहीं भी मुमकिन हुआ, बौद्ध संस्थाओं को नेस्तनाबूद कर दिया।

यह फर्क क्यों दिखता है? पुराने ग्रंथों से साबित होता है कि न केवल हर्ष, बल्कि कई दूसरे लोगों ने भी इन दोनों धर्मों को एक साथ अपनाया। फिर इन दोनों के बीच तालमेल क्यों नहीं बैठ सका?

मेरा मानना है कि इसकी वजह आर्थिक कठिनाइयां थीं। मूर्तियों में काफी अधिक मात्रा में उपयोगी धातुओं का इस्तेमाल होने लगा था। गुप्त-काल के बाद बौद्ध-मठ और मंदिर स्थानीय स्तर पर खालीपन पैदा कर काफी दूर-दूर तक फैल गए; लेकिन उन्होंने उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए न तो कोई विकल्प पेश किया और न ही किसी अन्य ढंग से क्षतिपूर्ति की। नतीजे के तौर पर भारतीय इतिहास का जो सबसे बड़ा मूर्ति-तोड़क पैदा हुआ वह हर्ष नाम का एक अन्य राजा था (सन् 1089-1101)। उसने कश्मीर की सभी मूर्तियों को तोड़ डाला। केवल चार मूर्तियों को साबुत छोड़ा। इस मुहिम के लिए उसने देवपतन नायक नाम के एक मंत्री को खासतौर पर तैनात किया। इस मुहिम की कोई धार्मिक वजह भी नहीं बताई गई, हालांकि ऐसी कोई वजह आसानी से बताई जा सकती थी। इन सबके बावजूद वह कश्मीरी राजा सभ्यता के सिंहासन पर बैठा रहा और संस्कृत साहित्य और कला के संरक्षक की भूमिका निभाता रहा। शायद उसने *गीता* भी पढ़ी थी। पर उसे स्थानीय डामरा सरदारों से लड़ने के लिए धन की सख्त जरूरत थी। उसकी वह मुहिम कामयाब रही, जिसके नतीजे के तौर पर सामंतवाद पहले के किसी भी दौर के मुकाबले और मजबूत हुआ।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि समाज के ऊपरी ढांचे में रफूगरी तभी की जा सकती है, जब बुनियादी ढांचे के मतभेद काफी बड़े न हों। इसलिए गुप्त-वंश के शासनकाल के शुरुआती दौर में *गीता* वाकई इस्तेमाल में लाई जा सकने वाली चीज थी। उस समय फैलती हुई ग्रामीण बस्तियां एक शक्तिशाली केंद्रीय सरकार को दौलत हासिल करने का नया जरिया मुहैया करा रही थीं। व्यापार भी तरक्की की राह पर था। उन हालात में अनेक पंथ कायम रह सकते थे, क्योंकि उन्हें भरपूर आर्थिक साधन हासिल हो सकते थे। हर्ष शिलादित्य का समय आते-आते हालात पूरी तरह बदल चुके थे। हालांकि मठों को उदारता के साथ कई दान उस समय भी दिए गए। गांव कमोबेश आत्मनिर्भर थे और उनकी जरूरतें अपने ही साधनों से पूरी होती थीं।

काफी हद तक केंद्र से संचालित होने वाले और व्यापारिक मंदी की हालत झेल रहे राज्य के लिए कर (टैक्स) उगाही आमदनी का फायदेमंद जरिया नहीं रह गई। वजह यह थी कि प्रति व्यक्ति के लिहाज से उत्पादन और नकद व्यापार कम हो गया। इसका सबूत उस दौर के घटिया दर्जे के सिक्कों से मिलता है। सामंतों और मठों के पास सोना, चांदी और जवाहरात जमा हो रहे थे, इसके बावजूद कुषाण और सातवाहन शासन के विलासिता की वस्तुओं के महत्वपूर्ण केंद्रीकृत व्यापार में गिरावट आ गई थी। किसी जमाने का शानदार पटना शहर उत्पादन के लिहाज से महत्व खोकर खंडहरों से भरे गांवों की शक्ल में बिखर चुका था। उन गांवों के खंडहरों से उसके अतीत की झलक मिलती थी और लोग उन्हें किन्हीं गैर-मामूली इंसानों का करिश्मा मानते थे। सबके लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं रह गए थे। नतीजे के तौर पर एक समुदाय दूसरे समुदाय को पीछे ठेलने में लगा था। ऐसा ही एक उदाहरण, हरि-हर की उपासना-पद्धति है, जिसमें आधा रूप शिव का और आधा रूप विष्णु का है। थोड़े समय तक उनकी उपासना काफी चलन में रही, पर नवीं सदी के बाद अपनी लोकप्रियता खो बैठी। हरि और हर के अनुयायियों को अपने हित एक-दूसरे से काफी अलग लगे। नतीजे के तौर पर शैव-वैष्णव संघर्ष शुरू हो गया।

मुगल शासनकाल की समृद्धि के दौर में अकबर दीन-ए-इलाही जैसे समन्वयकारी पथ के सपने देख सकता था। लेकिन औरंगजेब को अपनी लगान की गिरती हुई आमदनी बढ़ाने के लिए धार्मिक उत्पीड़न, कर और दूसरे मजहब के लोगों पर जजिया लगाने जैसे तरीकों का सहारा लेना पड़ा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि *गीता* को लिखना केवल ऐसे दौर में ही संभव था, जब सही मायने में उसकी जरूरत ही नहीं थी। शंकर को अपना मकसद हासिल करने के लिए जबर्दस्त वादविवाद में उलझना पड़ा और शास्त्रार्थ करने पड़े। अगर सभी नजरियों के बारे में सहनशील रवैया अपनाकर उनको एक ही नजरिए के दायरे में शामिल करने में कामयाबी हासिल होती है, तो इसका मतलब यह है कि उत्पादन के साधनों के स्तर पर अधिक गहरा संकट मौजूद नहीं है। जब उत्पादन इतनी मात्रा में नहीं होता कि विचारों की अधिक खुली उड़ान भरी जा सके और तालमेल का तरीका उत्पादन बढ़ाने में मददगार साबित नहीं होता, तब तालमेल बैठाना और सहनशील रवैया अपनाना नामुमकिन हो जाता है। देवताओं और देवियों की शादी करने का तरीका शुरुआती दौर में इसलिए कामयाब हो सका कि माता की सत्ता और पिता की सत्ता के तहत निजी जायदाद के अलग-अलग रूपों के मतभेद इस तरीके से हल हो जाने के बाद बने संयुक्त समाज के उत्पादन में काफी बढ़ोतरी हो गई थी।

शिव और विष्णु के परिवारों में आदिम देवताओं को शामिल कर लिए जाने से खाने-पीने के सामान जुटाकर जिंदगी बसर करने वाले आदिवासियों को एक काफी बड़े खाद्य उत्पादक समाज में शामिल करना मुमकिन हो गया। दूसरा तरीका यही हो सकता था कि उन्हें गुलाम बनाया जाता या मार डाला जाता। इन दोनों उपायों को अपनाने से हिंसा होती और उस समय के उत्पादन कार्यों में भारी रुकावट आती। वैदिक आर्यों ने आदिवासियों के खिलाफ पहले ताकत का इस्तेमाल किया, पर आखिरकार उन्हें उनके साथ मेल-मिलाप करना पड़ा। *गीता* से शासक वर्ग के कुछ तबकों के मतभेदों को हल करने

में मदद मिली होगी। यह भी मुमकिन है कि इसके अंदर मौजूद विचारों के टकराव ने कुछ असाधारण समाज सुधारकों को प्रेरित किया होगा कि वे उच्च वर्ग के लोगों से एक नई सच्चाई कबूल कराएं और उन्हें अपने दायरे में नए सदस्यों को शामिल करने के लिए राजी करें। लेकिन वह हकीकत से परे थी और उसमें तर्क की कसौटी पर खरी उतरने वाली स्थिरता भी नहीं थी। इसी वजह से वह शायद न तो उत्पादन के तौर-तरीकों में कोई बुनियादी बदलाव ला सकी और न ही भारतीय समाज की मूल समस्याओं के हल का कोई रास्ता बता सकी।

भक्ति की सामाजिक भूमिका

लेकिन *गीता* ने एक ऐसी नई चीज पेश की, जो बाद के दौर की जरूरतों को काफी अच्छी तरह पूरी करती थी, और वह चीज थी भक्ति यानी निजी समर्पण। उस ग्रंथ की जिस किसी ने भी रचना की होगी, उसके लिए केवल एक दैवी स्रोत से सभी नजरिए पैदा होने की वाजिब वजह भक्ति थी। *अनुगीता* की मांग के रूप में हम इस एहसास का इजहार देख चुके हैं, हालांकि वह बेहद घटिया दर्जे की थी और मकसद को पूरा नहीं करती थी। लेकिन बाद के दौर में महान केंद्रीकृत साम्राज्य समाप्त हो गए। इसी कड़ी का अंतिम सम्राट हर्ष था। केंद्रीकृत साम्राज्यों के टूटने के बाद जो नए राज्य वजूद में आए, वे ऊपर से नीचे तक सामंती व्यवस्था के ढांचे में ढले थे। पूरी तरह विकसित सामंतवाद निजी वफादारी के धागे में गुंथा हुआ था। यही वह धागा था, जो कर वसूलने वाले सेवक को मुखिया से, किराएदार को स्वामी से और सामंत को राजा या सम्राट से जोड़ता था। यह वफादारी केवल खयाली नहीं थी, बल्कि उत्पादन के साधनों और संबंधों, जमीन के मालिकाने, सैनिक सेवा, कर उगाही और धनिकों द्वारा स्थानीय उत्पादन को माल में बदलने के सिलसिले जैसी ठोस बुनियाद पर टिकी हुई थी। यह व्यवस्था छठी शताब्दी से पहले संभव नहीं थी। इससे संबंधित मुख्य शब्द 'सामंत' का मतलब सन् 532 तक 'पड़ोसी शासक' था। सन् 592 आते-आते इसका इस्तेमाल सामंती सरदारों के

लिए होने लगा। नए 'सामंती सरदार' राजा के प्रति निजी तौर पर जिम्मेदार थे और कर उगाही व्यवस्था के अंग थे। गौरतलब है कि *मनुस्मृति* के राजा का कोई सामंत नहीं होता था। उसे हर चीज खुद या स्वतंत्र हैसियत न रखने वाले कारिंदों से करानी पड़ती थी।

सामंतवाद के नीचे से और विकसित होने का मतलब यह था कि गांवों के स्तर पर एक वर्ग के लोगों का जमीन पर खास तरह का हक होता था (यह हक खेती करने, जमीन पर कब्जे या विरासत से जुड़ा होता था)। वे सैनिक सेवा देने और कर उगाही का कार्य भी करते थे। इस तरह के समाज और उसकी राज्य-सत्ता को एक-दूसरे से जोड़े रखनेवाला सबसे अच्छा धर्म वही हो सकता था, जो भक्ति को महत्व दे। हालांकि इस भक्ति-भरे समर्पण के लक्ष्य में साफ तौर पर खामियां नजर आती थीं।

मध्ययुग में युद्ध में मारे गए उन योद्धाओं को अनगिनत अनपढ़ पत्थरों के जरिए याद किया गया है, जो आम तौर पर मवेशी चुराने वालों के हमले में मारे गए थे। इन योद्धाओं की हैसियत आम गांव वालों से ऊपर होती थी। पुराने जमाने में निहत्थे गांव वालों की हिफाजत के लिए इलाके की गुल्म किलेबंदी की जाती थी। हथियार धारण करने (इसके साथ ही जरूरत पड़ने पर सैनिक सेवा देने की जिम्मेदारी भी जुड़ी हुई थी) का अधिकार अब गांवों में रहने वाले एक वर्ग को दे दिया गया था। पत्थर की पट्टियों पर खुदे कई लेखों में गंगा किनारे के उन सामंती सरदारों का गुणगान किया गया है, जिन्होंने अपने राजा के फायदे के लिए किसी मूर्ति के आगे अपने सिर की बलि दे दी। अनेक शिलालेखों में स्थानीय योद्धा पक्का इरादा जाहिर करते दिखते हैं कि अपने मुखिया की मौत के बाद वे भी जिंदा नहीं रहेंगे। 13वीं सदी में पांड्या वंश के शासनकाल की घटनाओं के बारे में मार्को पोलो ने लिखा है कि उन दिनों सामंत खुद को राजा की चिता में झोंक देते थे, ताकि उसके शव के साथ खुद भी भस्म हो जाएं। ये चीजें भक्ति के मिजाज से खूब मेल खाती थीं। इस तरह की वफादारी बर्बरता से भरी हुई थी। पर किसी प्राचीनकाल के कबीले का सरदार

अपने समर्थकों से ऐसी वफादारी हासिल होने की उम्मीद नहीं कर सकता था।

हालांकि भक्ति सामंतवादी दर्शन की बुनियादी जरूरत थी, पर सबको इसका एक जैसा फायदा नहीं मिला। 12वीं सदी आते-आते सामंतवादी व्यवस्था काफी हद तक किसानों से लिए जाने वाले कर पर निर्भर हो गई। ये किसान शानो-शौकत से भरे महलों की ही नहीं, उन मंदिरों की भी आर्थिक जरूरतें पूरी करते थे, जो न केवल महलों जितने ही अमीर थे, बल्कि उनसे भी अधिक सजे-संवरे थे। ब्राह्मणवाद निश्चित रूप से सामाजिक व्यवस्था की चोटी पर खड़ा था। यह हकीकत उस समय की दो महत्वपूर्ण संकलित रचनाओं से जाहिर होती है। उनमें से एक संग्रह *कृत्य कल्पतरु* के संकलन-कर्ता भक्त लक्ष्मीधर थे (जो सन् 1150 के लगभग कन्नौज पर शासन करने वाले गोविंद चंद्र गहडवाल के मंत्री थे)। एक सदी के बाद हेमाद्रि ने भी चतुर्वर्ग चिंतामणि नाम के लगभग वैसे ही एक अन्य ग्रंथ का संकलन किया। वह देवगिरि (दौलताबाद) के अंतिम यादव शासकों के वित्तमंत्री थे। उन्हें बेमिसाल गणकाग्रही (कंप्यूटर) की उपाधि दी गई थी। जल्दी हिसाब लगाने में मददगार कई पहाड़ों को उनके नाम से जोड़ा जाता है। उनका नाम मराठी परंपरा में अनाज के तौर पर बाजरी के आम इस्तेमाल, घसीटमार शैली की मोदी वर्णमाला और आस-पास सटे बगैर गारा लगे सदियों पुराने अनेक यादव मंदिरों से भी जोड़ा जाता है, हालांकि इसमें कोई सच्चाई नहीं है। दरअसल इन मंदिरों को इसलिए बनाना पड़ा कि बेतरतीब ढंग से बने कीमती साजोसामान वाले छोटे-छोटे पुराने मंदिरों को व्यवस्थित रूप दिया जा सके। यह सिलसिला 12वीं सदी तक चलता रहा। इन सभी चीजों के बावजूद उनका वह महत्वपूर्ण ग्रंथ न तो दूसरा *अर्थशास्त्र* और न ही एक अन्य *आइने-अकबरी* बन सका। उसे भारत का *कार्पस जूरिस सिवलिस* (नागरिक न्याय संहिता) भी नहीं कहा जा सकता। वह पूरी तरह से ब्राह्मणवादी अनुष्ठानों से संबंधित है, जिसमें कर्मकांड (धार्मिक विधियों) को पुराणों एवं अन्य मान्यता-प्राप्त धार्मिक पुस्तकों के

आधार पर संहिता-बद्ध (कोडीकरण) किया गया है। सात प्रकाशित ग्रंथों में मूल ग्रंथों का लगभग 60 फीसदी हिस्सा है। यदि कोई इसमें दी हुई देवपूजा, चंद्रग्रहण, अतिचार (नियमों के उल्लंघन से लगने वाले पाप) से मुक्ति, पूजा-पाठ, त्यौहार या अन्य मौकों से संबंधित विधियों के दसवें हिस्से को भी अमल में लाने लगे, तो उसके पास और कुछ करने के लिए वक्त नहीं बचेगा। यह पूरी तरह अंधविश्वासी आरामतलब तबके का ग्रंथ है। इस लिहाज से इस समय तक मालूम किसी और ग्रंथ से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। लक्ष्मीधर के संकलन का एक भाग न्याय के तरीकों से संबंधित है। उससे मालूम होता है कि उस समय खासो-आम पर लागू होने वाला एक कानून (कामन लॉ) अमल में लाया जाता था और हर जाति, कबीले और इलाके के बारे में उनके रीति-रिवाजों के मुताबिक फैसले किए जाते थे। लेकिन संकलन में 'स्मृति' के ही सिद्धांतों को दुहराया गया है। उसमें न तो अमल में लाए जाने वाले किसी नए तौर-तरीके का जिक्र है और न ही किसी भी मामले पर टीका-टिप्पणी की गई है।

महाराष्ट्र में इस विचार-परंपरा का विरोध दो समुदायों ने किया। ये दोनों समुदाय कृष्ण-भक्त थे। खास बात यह है कि उन्होंने अपने समर्थन के लिए प्राचीन आदर्शों का सहारा लिया। 'महानुभाव' या 'मनभाव' संप्रदाय की स्थापना चक्रधर ने 12वीं सदी में की थी। उसने कबायली तथा सामुदायिक समाज के आदर्शों को अपनाया। वे काला कपड़ा पहनते थे, जाति-प्रथा को नहीं मानते थे और गोत्र-समाज की तरह छोटे-छोटे समूह बनाकर रहते थे। संप्रदाय के सदस्य एक-दूसरे के साथ साझेदारी करते थे तथा उन्होंने विवाह के लिए भी काफी सरल रीतियां (गड-बड-गुंडा) बना रखी थीं। वैसे बाद में उसके कुछ नेताओं ने निजी जायदादें कायम कर ली थीं। इसकी वजह हिंदुओं से सम्मान पाने की उनकी लालसा थी। दूसरे आंदोलन को आकार और ताकत संत ज्ञानेश्वर ने दी। पंढारपुर जाने वाले मौसमी वरकारी तीर्थयात्रियों पर उसका काफी असर था। वे एक ऐसे रिवाज को मानते थे, जो शायद उस जमाने से चला आ रहा था, जब लोग एक ही पत्थर

से बने औजारों और हथियारों का इस्तेमाल करते थे। अपना धर्म त्याग देने वाले भिक्षु का पुत्र होने के कारण ब्राह्मणों ने ज्ञानेश्वर पर पाबंदी लगा रखी थी। उनके बूढ़े मां-बाप को इतनी तकलीफें झेलनी पड़ीं कि उन्होंने गंगा में डूबकर जान दे दी। खुद ज्ञानेश्वर की छोटी-सी जिंदगी तकलीफों से भरी रही। आखिरकार उन्होंने अलंदी में आनुष्ठानिक विधि से प्राणत्याग दिए (आत्महत्या!)।

उनके बताए रास्ते पर चलने वाले मराठी संतों ने ज्ञानेश्वर की ही तरह लोगों की भाषा में लिखा। उन्होंने सभी जातियों से संबंधित आम लोगों की तकलीफें खुद महसूस कीं। नामदेव दर्जी थे, फिर भी उन्होंने इस नए सिद्धांत को बेहद कामयाबी के साथ उत्तर भारत में काफी दूर तक पहुंचाया। कहा जाता है कि उनकी रचनाओं के कुछ अंश सिखों के प्रमुख धर्मग्रंथ गुरुग्रंथ साहब में सीधे-सीधे शामिल कर लिए गए हैं, या यूं कहें कि उन्होंने इतनी दूर के इलाके में भी इस कदर उमंग और प्रेरणा भर दी कि उसने पंजाब के लोगों के बीच एक महान धार्मिक आंदोलन का रूप ले लिया। अछूत चोखा मेला मंगलवेधे कस्बे की दीवाल गिरने से उसके नीचे दबकर मर गए। बूढ़ा होने के बावजूद उन्हें वहां बेगार करने के लिए भेजा गया था। एकनाथ पैठन ब्राह्मण थे।

ज्ञानेश्वरी का मौजूदा पाठ उन्हीं की देन है। उसके अलावा भी उन्होंने मराठी की कई बेहतरीन कविताएं लिखीं। पर ब्राह्मण होने के बावजूद उन्होंने छुआछूत के बारे में लगाई गई भोंड़ी पाबंदियों को सभी हदें लांघकर तोड़ा। उन सभी संतों में सबसे महान थे तुकाराम। 16वीं सदी का वह संत कुनाबी किसान और अदना-सा अनाज व्यापारी था। उन्होंने भयानक अकाल का सामना किया और अपने वक्त के लोक कवियों की जलन तथा ब्राह्मणों की हिकारत-नफरत का निशाना बनते रहे। आखिरकार उन्हें नदी में डूबकर जान देनी पड़ी।

ये लोग एक ऐसे लोक आंदोलन के नुमाइंदे थे, जो केवल उनके सूबे और उनकी जुबान तक सीमित नहीं था। आम तौर पर दुख-दर्द में डूबी उनकी जिंदगी बताती है कि वे लोग उस वक्त के असरदार लोगों की खिलाफत कर रहे थे। उन्होंने उन ब्राह्मणों की तरह सत्ता में बैठे लोगों को खुश करने के लिए लटके-झटके नहीं दिखाए, जिन्हें फायदा दिखने पर इन संतों की उपासना-पद्धति को बढ़ावा देने से परहेज नहीं था, पर वे दलाली हमेशा अमीरों की ही करते रहे।

मराठों और बाद के सिखों की फौजी ताकत असल में उनकी बनिस्बत सीधी-सीधी सामाजिक जिंदगी थी, जिसमें औरों के मुकाबले जाति-पांति तथा गैरबराबरी जैसी बुराइयां कम थीं। चंद्रराव मोरे, भोंसले और जाधव जैसे शुरुआती दौर के मराठा सेनापति जाने-माने खानदानों के थे। जाधव तो देवगिरि के यादव सम्राटों और उनके जरिए कृष्ण से भी अपना ताल्लुक होने का दावा कर सकते थे, पर बाद के दौर के शिंदे ओर गायकवाड़ जैसे सेनापति उतने बड़े खानदानों से नहीं आए थे। माधवराव होल्कर धनगढ़ नाम की गड़ेरिया जाति के थे। आमतौर पर उस जाति के किसी आदमी को सेनापति अथवा बेहद ऊंचे स्तर का राज्य-अधिकारी बनने का मौका नहीं दिया जाता, क्योंकि उससे एक कदम आगे ही राजा की गद्दी होती थी। लगता है कि मराठा सेना के भगवा झंडे की ही तरह नीचे के तबके के लोगों को ऊंचे पद मिलने की भी वजह कुछ हद तक वरकारी परंपराएं ही थीं।

यह सच है कि पेशवा के जमाने में ब्राह्मणवाद पूरी तरह छाया

हुआ था और उस दौर में बड़वे ब्राह्मण पुजारियों का बोलबाला था। उसके बावजूद वरकारी तीर्थयात्री अपनी यात्राओं के दौरान जाति-पांति और भेदभाव को महत्व नहीं देते थे। पर इन सुधारों और उनके लिए किए गए संघर्षों का निशाना सामंतवाद कभी नहीं रहा। इसीलिए जब ये संघर्ष कामयाब हुए तो उन्हें सामंतवाद का संरक्षण मिलने लगा, पर इसका नतीजा यह निकला कि सामंतवाद के पतन के साथ ही इनका भी पतन हो गया। आखिरकार एक जनआंदोलन एक-दूसरे को जीतने के लिए लड़ी जानेवाली लड़ाइयों और लूटमार की अंधेरी गलियों में भटककर रह गया।

कई विचारधाराओं को मिलाजुलाकर तैयार किए गए *गीता* के दर्शन में शायद नए रास्ते तलाशने की गुंजाइश थी, पर वह हालात की बारीकी से छानबीनकर सामाजिक रुकावटों को दूर करने वाला औजार कभी नहीं बन सकी। ज्ञानेश्वर की जिंदगी और उनके दुखद अंत से यह सच्चाई पूरी तरह जाहिर होती है। उन्होंने ईश्वरीय संदेश (*गीता*) का सीधा अनुवाद नहीं किया, बल्कि उसके भाव और अर्थ की व्याख्या अपनी सोच के मुताबिक और उसी भाषा में की जिसे कोई भी मराठी किसान समझ सकता था। *गीता* पर ज्ञानेश्वर की सबसे लंबी टिप्पणी उसके 13वें अध्याय, खासतौर पर उसके सातवें और 11वें श्लोक के बारे में है। वे अध्याय खेती करने वाले से संबंधित हैं। सातवें श्लोक पर टिप्पणी करते हुए तो वह मूल *गीता* के असली भाव से काफी दूर चले आने के लिए खुद क्षमा मांगते हैं। इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए वह यज्ञ में बलि देने वालों को बुरी तरह झिड़कते हैं (*ज्ञानेश्वरी* 13.314-338)। इसके बावजूद *ज्ञानेश्वरी* के 13वें अध्याय के 134-135वें दोहों में वह इन बलियों को अपने आदर्श (कृष्ण) की ही तरह साधारण और जरूरी धार्मिक विधि मानते हैं। उसके बाद कृष्ण और ज्ञानेश्वर दोनों आगाह करते दिखते हैं कि दान और तपस्या की ही तरह यज्ञ का भी त्याग नहीं किया जाना चाहिए (*गीता* 18.5 और *ज्ञानेश्वरी* 18.149.152)। अंधविश्वासों का यह घालमेल *ज्ञानेश्वरी* के 13वें अध्याय के 812 वें से 822वें दोहे तक

में बड़ी अच्छी तरह जाहिर होता है। इनमें कहा गया है– "किसान अपनी सहूलियत के मुताबिक एक के बाद एक उपासना-पद्धतियां अपनाता रहता है। किसी खास क्षण में उसे जिस उपदेशक की शिक्षा भाती है, वह उसी की बताई राह पर चलने लगता है और उसकी रहस्यभरी विधियां सीखने लगता है। वह जिंदा लोगों की ओर से बेपरवाह होकर पत्थरों और मूर्तियों पर भरोसा करने लगता है, पर उनमें से भी किसी में उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। वह घर के किसी कोने में मेरी मूर्ति लगा देता है और उसके बाद किसी और देवता के तीर्थ की यात्रा करने चला जाता है। वह रोज मेरी प्रार्थना करता है, पर जरूरत पड़ने पर अपने कुल देवता की और शुभ अवसरों पर अन्य देवताओं की उपासना भी करता है। वह मेरी उपासना-पद्धति अपनाता है और उसकी वजह से बरसी की तारीखों पर व्रत रखता है, वह अपने पुरखों में भी श्रद्धा रखता है। लेकिन वह एकादशी को जिस तरह हमारी पूजा करता है, उसी तरह पंचमी को पवित्र नाग की भी पूजा करता है।

गणेश चतुर्थी के दिन वह पूरी तरह गणेश का भक्त बन जाता है और चतुर्दशी को कहता है, 'मां दुर्गे, मैं केवल तुम्हारा भक्त हूं।...' वह नवरात्र में चंडी की स्तुति करता है, रविवार को घर के बाहर लोगों को भोजन कराता है और सोमवार को शिवलिंग पर बेल चढ़ाने के लिए दौड़ता है। इस तरह लगातार प्रार्थनाएं करता रहता है, एक पल के लिए भी खामोश नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे कि कोई वेश्या शहर के दरवाजे पर गुहार लगाती रहती है।"

वैसे ज्ञानेश्वर के जमाने में कई देवताओं की पूजा करने का चलन समाज के हर तबके में था। अनेक देवताओं की पूजा का चलन समाज के उस काफी ऊंचे तबके में भी था, जिनके लिए लक्ष्मीधर और हेमाद्रि ने अपने भारी-भरकम संकलन तैयार किए थे। इस लिहाज से टिप्पणीकार ने घुमा-फिराकर जुल्म करने वाले ऊंचे तबके के खिलाफ आवाज उठाई है। ज्ञानेश्वर ने अपने ढंग से व्याख्या करके *गीता* के सिद्धांत को एकदम नया मोड़ दे दिया है। *ज्ञानेश्वरी* के नवें अध्याय के 460वें से 470 वें दोहे तक में वे कहते हैं-

"जैसे पूरब या पश्चिम से आने वाली नदियों का अलग-अलग नाम तभी तक रहता है, जब तक कि वे समुद्र में नहीं मिल जातीं, ठीक वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य, नारी, शूद्र और अछूत का अलग-अलग वजूद तभी तक रहता है, जब तक कि वे मुझे प्राप्त नहीं कर लेते। जैसे पारस पत्थर के छूते ही लोहा सोना बन जाता है, वैसे ही इंसान की सोच में किसी भी वजह से मेरे प्रवेश करते ही वह मुझ समान हो जाता है। इसीलिए (गोकुल की) ग्वालिनों ने अपने सांसारिक प्रेम, कंस ने भय, शिशुपाल ने नफरत, वासुदेव और यादवों ने नातेदारी तथा नारद, ध्रुव, अंगिरा, सुक और सनत कुमार ने भक्ति की वजह से मुझे प्राप्त किया। विश्राम की अंतिम जगह मैं ही हूं। इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि इंसान मुझ तक भक्ति, वासना, सच्चे प्रेम या दुश्मनी में से किस रास्ते को अपनाकर पहुंचता है- सही रास्ते से पहुंचता है या गलत रास्ते से पहुंचता है।"

यह आकर्षक टिप्पणी गीता के नवें अध्याय के 32वें श्लोक पर

आधारित है, पर न तो उस निर्दयी श्लोक और न ही बुनियादी तौर पर बेरहमी भरी कृष्ण–कथा से डाह और जलन से बिलकुल ऊपर उठ जाने का ऐसा शांति भरा संदेश और पूर्ण भक्ति–भाव झलकता है। लेकिन अगले ही बंद में विद्वान (ज्ञानेश्वर) महोदय ब्राह्मणों का गुणगान करते नजर आते हैं और उन्हें धरती पर देवताओं का जीता–जागता रूप बताते हैं। ज्ञानेश्वर के वक्त के ब्राह्मणों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। *गीता* को मराठी भाषा में पेश करने की एक खास वजह यह भी जरूर रही होगी। इसके बावजूद वे ब्राह्मणवादी वैदिक शिक्षा हासिल करने की हर कोशिश करते रहे, जबकि जनेऊधारियों के अलावा बाकी सभी के लिए उसे हासिल करना आधिकारिक तौर पर मना था। ज्ञानेश्वर की खुद की शख्सियत में आपसी विरोध से भरी हुई इस तरह की चीजें समाई हुई थीं। इसीलिए उन्हें समाज में जो फर्क और फासले दिखे, उन्हें *गीता* में देख पाने में वे नाकामयाब रहे।

इस बेतरतीबी की वजह से ही उन्होंने सामाजिक समस्याओं के हल के लिए आंदोलन तो छेड़ा, पर शरीर को अमर बनाने और रहस्यमय पूर्णता प्राप्त कराने वाले योग–मार्ग की गहरी जानकारी होने
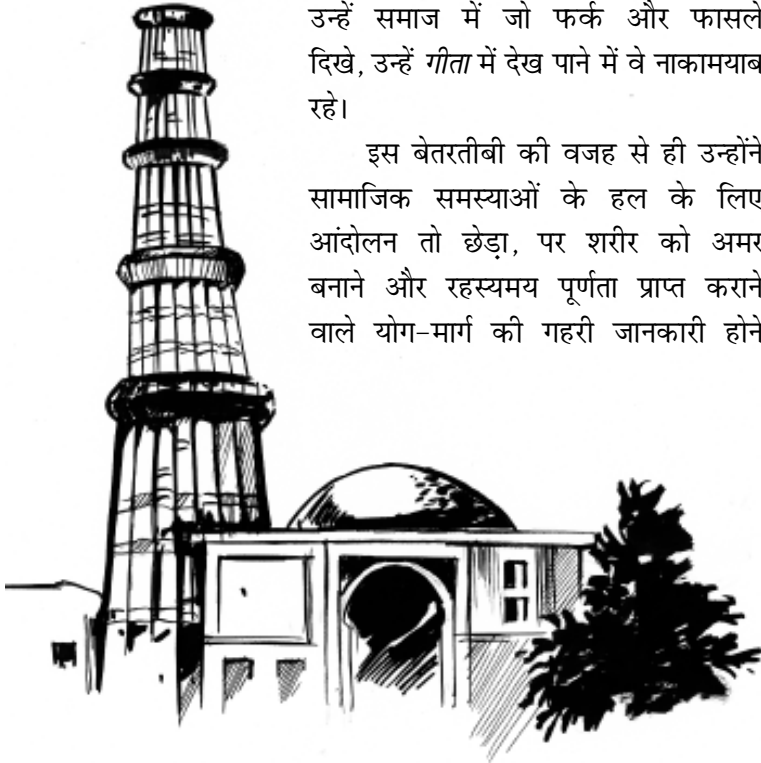
के बावजूद उनके लिए आखिर में कुछ नहीं बचा और उन्हें आत्महत्या करनी पड़ी। उनकी मायूसी की एक वजह शायद यह भी रही होगी कि जब मुसलमानों ने यादव राज्य पर एकाएक हमला करके उनके धन-वैभव से भरे अनेक मंदिरों को नेस्तनाबूद कर दिया, तब ईश्वर चुप्पी साधे रहा और यादव राज्य को बचाने के लिए कोई अवतार नहीं आया।

आज के दौर में गीता

भारतीय समाज के सामने मुख्य समस्या अल्लाउद्दीन खिलजी और अन्य मुसलमान विजेताओं ने खड़ी की। उन्होंने भारी कर लगाने शुरू कर दिए। इसके लिए कर-उगाही की अधिक असरदार व्यवस्था की जरूरत महसूस की गई। नतीजे के तौर पर सामंतवाद के एक नए रूप को बढ़ावा मिला, जो पहले से अधिक ताकतवर और कारगर था। कुछ लोग इस बारे में काफी आशावादी नजरिया अपनाते हैं। उनका मानना है कि अल्लाउद्दीन ने गरीबों को फायदा पहुंचाया, क्योंकि उसने केवल अमीरों को निचोड़ा और कमजोर बनाया। लेकिन उस सोच में ईमानदारी नहीं दिखती। इसमें इस असलियत को नजरअंदाज कर दिया जाता है कि दोआब के इलाके पर अल्लाउद्दीन का सीधा शासन था, इसके बावजूद किसानों पर पहले से लदे किसी बोझ को कम नहीं किया गया। उनसे एक अलग जरिए से कर वसूला जाता था। लेकिन यह सच है कि हिंदू समुदाय के ऊंचे वर्ग को कुछ समय के लिए नई उगाही करने से रोक दिया गया। सूबों के लिए तो इतनी तसल्ली भी नहीं थी, क्योंकि दिल्ली के तख्त ने जीते गए इलाकों पर भारी कर लगा दिए थे और इसकी रत्तीभर भी परवाह नहीं की कि उन इलाकों के अमीर उसे कैसे वसूलेंगे या उस कर के अलावा और कितना वसूलेंगे। इलाकाई फौजों को उस हद तक घटा दिया गया, जहां से वे दिल्ली की हुकूमत के लिए खतरा न बन सकें। इसके बावजूद उनमें अपने असली मकसद यानी कर-वसूली के लिए भरपूर ताकत थी। थोपे गए करों को अदा किया गया हो या न किया गया हो, पर चुंगी

और वसूली बढ़ती चली गई। ऐसा उन इलाकों में भी हुआ जो कर-वसूली के दायरे में नहीं आते थे। तय सीमा से अधिक वसूली करने वाला वर्ग उसे अपने पास ही रख लेता था। इस वजह से सामंती राज्य की जरूरतें केवल शुरुआती दौर में ही पूरी हो सकीं।

उस समय सामंतवाद ने व्यापार और नए ढंग के कृषि उत्पादन को बढ़ावा दिया था। उसके बाद संकट बढ़ने लगा, जिसे एक अन्य विदेशी हमलावर ने यहां जीत के झंडे गाड़कर दूर किया। उसने एक बुर्जुआ (पूंजीवादी) व्यवस्था कायम की, जो बिलकुल अलग ढंग की व्यवस्था थी। हमारे आधुनिक स्वतंत्रता आंदोलन ने इस व्यवस्था के उत्पादन के तौर-तरीकों को चुनौती नहीं दी। उसकी मांग केवल इतनी थी कि सत्ता हाल ही में विकसित भारतीय बुर्जआ वर्ग को सौंप दी जाए।

आधुनिक जीवन विज्ञान और आजादी की बुनियाद पर टिका है। मतलब यह है कि सभी चीजों का निचोड़ दो मुद्दों में शामिल है–पहला, भौतिक सच्चाई का एहसास (विज्ञान), और दूसरा, जरूरतों को पहचानना और मानना (आजादी)। इंसान ने जब कुदरत के राज को जानना और पदार्थ की अनगिनत खूबियों को खोजना नहीं सीखा था, उस दौर में *गीता* जैसी पुराण-कथा अपने गूढ़ प्रतीकों और बिंबों की वजह से उसकी सोच पर असर डाल सकती थी। यह भी मुमकिन है कि उसने उस वक्त किसी असाधारण प्राकृतिक घटना या कुदरती सिलसिले पर रोशनी डाली हो। लेकिन धर्म इस तरह की पुराण-कथाओं को दकियानूसी सोच (मतांधता) में बदल देता है।

आजकल कुछ लोग यह राग अलापते हैं कि वैज्ञानिकों और उनकी खोजों का इस्तेमाल करने वालों को सामाजिक नैतिकता नहीं त्यागनी चाहिए। इस लचर तर्क की आड़ में यह साबित करने की कोशिश की जाती है कि 'विज्ञान को धर्म की जरूरत है।' लेकिन नैतिक व्यवस्था बनाने के लिए *गीता* या *बाइबिल* को खंगालने की जरूरत नहीं है। उनकी मदद से बनी नैतिक व्यवस्था तो महज अंधविश्वासों से सराबोर होगी। इन किताबों को अब भी पढ़ा जा सकता

है, पर इन्हें केवल उनमें मौजूद साहित्यिक सुंदरता की वजह से पढ़ा जाना चाहिए। इनके बारे में इससे अधिक किसी चीज का दावा करने वाले अमूमन हवाई किले बनाकर लोगों की सोच को जंजीरों में जकड़ने और इंसान की तरक्की रोकने की कोशिश करते हैं।

जब सभी इंसानों की भौतिक आवश्यकताएं उनके वक्त के समाज के मुताबिक वाजिब माने जाने वाले पैमाने पर अच्छी तरह पूरी होने लगेंगी, तो हर शख्स के लिए आध्यात्मिक सतह पर पूर्णता हासिल करना भी अधिक आसान हो जाएगा। बुराइयों की जड़ सामाजिक व्यवस्था में मौजूद है। उन्हें उखाड़ फेंकने के लिए धर्मशास्त्रों की नहीं, बल्कि समाजवाद की जरूरत है। हमें योजना बनाकर किए गए प्रयोगों से मिले तर्कसंगत नतीजों की बुनियाद पर सामाजिक ढांचे में आधुनिक विज्ञान को लागू करना होगा। विज्ञान आधुनिक उत्पादन व्यवस्था की बुनियाद है, इंसान की जरूरतों को पूरा करने वाला और कोई औजार दिखाई नहीं दे रहा। इसके अलावा, महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि यदि उत्पादन–संबंध रुकावट न डालें तो हर इंसान की भौतिक जरूरतें पूरी की जा सकती हैं। ●